कवि-दृष्टि

'अज्ञेय'

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

आमुख

'तारसप्तक' (१९४३) के प्रकाशन के बाद हिंदी कविता और समीक्षा वही नहीं रही, और वहीं नहीं रही। जिस भाव-भूमि की पहिचान इन कवियों ने की उसका अभिज्ञान 'तारसप्तक' की भूमिका कराती है। और उसके बाद वाद-विवाद, चर्चा-परिचर्चा के क्रम में अन्य सप्तक-संकलनों की भूमिकाएँ जुड़ती गईं, और हिंदी में छायावादोत्तर काव्य परिवेश का एक पूरा नक्शा इस शृंखला के माध्यम से तैयार होता गया। रचना का महत्त्व, रचना-प्रक्रिया की छान-बीन, रचनाकार और उसके बृहत्तर समाज के बीच होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया में वाचिक परंपरा का योग-दान—ये और ऐसे अन्य अनेक विषय समकालीन समीक्षा में अज्ञेय की चिंता-धारा से प्रवाहित हुए हैं। आधुनिक साहित्य में अज्ञेय की यह भूमिका अनायास टी० एस० एलियट का स्मरण कराती है, जिसका काव्य और साहित्य-चिंतन परस्पर सहकार की मुद्रा में अँग्रेज़ी साहित्य को आधुनिक युग में लाते हैं। कविता सर्जनात्मकता का सघनतम रूप होने के कारण वहाँ निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, पर पुनःसर्जन के स्तर पर समीक्षात्मक निबंध भी कम महत्त्व के नहीं हैं। कविता और समीक्षा का यह युग्म अपने आप में आधुनिक साहित्य की पहिचान बनाता है, जहाँ अनुभव और विचार का संश्लेष कई रूपों और मात्राओं में गतिशील हुआ है। सप्तक-शृंखला से हटकर अज्ञेय की भूमिकाएँ फिर खड़ी-बोली कविता के नये रूपों और भाव-बोध को रेखांकित करती हैं, जहाँ वे अपने से पहले के कवियों को आत्मीय कृतज्ञता और गहरे विद्रोह की मिली-जुली भाव-भूमि में परखती हैं। यों मैथिलीशरण गुप्त से लेकर युवा कवियों तक 'कवि-दृष्टि' सजग और सक्रिय बनी रहती है। शुक्लोत्तर समीक्षा के विकास में अज्ञेय की इन भूमिकाओं की केन्द्रीय भूमिका रही है, इसे समझना आधुनिक काव्य के सामान्य पाठक या कि विद्यार्थी और शोधकर्त्ता के लिए समान रूप से उपयोगी और आवश्यक है।

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

अनुक्रम

भूमिकाओं की भूमिका

इस पुस्तक की मूल योजना मेरी नहीं थी। प्रकाशक की ओर से ही इसका प्रस्ताव पहले आया। तभी यह भी विदित हुआ कि इस विषय में उनकी कुछ वरिष्ठ अध्यापकों और आलोचकों से बात हो चुकी है और वे ऐसी पुस्तक की उपादेयता के बारे में आश्वस्त हैं।

पहली सूझ तो मेरी नहीं ही थी, यह भी स्वीकार करूँ कि प्रकाशक का प्रस्ताव आया तो मेरी पहली प्रतिक्रिया कुछ विनोद की ही थी। सम्भाव्य शीर्षक के रूप में पहले वही पद आया जो अब इस पुस्तक का उपशीर्षक है : विनोद का कारण यह हुआ कि 'भूमिका' शब्द के जो मंचीय सन्दर्भ हैं उनके सहारे मैंने भविष्यत् आलोचकों की अपेक्षित आलोचनाओं के कुछ पूर्वानुमान तत्काल मन ही मन गढ़ लिये। 'अज्ञेय की भूमिकाएँ'—हाँ, हिन्दी मंच पर यह लेखक तरह-तरह की भूमिकाएँ ही तो अदा करता रहा है। कुछ को वह केवल खल-नायक की भूमिका में दीखा है, या यों कह लीजिए कि उसी भूमिका में सफल दीखा है; कुछ को वह ठीक खल तो नहीं, लेकिन ऐसे फ़ितना आदमी की भूमिका में दीखा है जो जब-तब लोगों को चिढ़ाने के लिए एक शोशा छोड़ देता है और नेपथ्य में खड़ा हो कर आगे के व्यापार का मज़ा लेता है। निःसन्देह कुछ लोगों ने उसे इससे अच्छी भूमिका में भी देखा है, पर उनकी बात अपनी जगह है।

लेकिन विनोद की प्रतिक्रिया हो जाने के बाद धीरे-धीरे मुझे यह दीखने लगा कि इस पुस्तक की उपयोगिता हो सकती है। मुझे जब से लेखक के रूप में जाना जाने लगा तभी से मैं लगातार हिन्दी साहित्य के समकालीन कृतित्व का भी पर्यवेक्षण करता रहा हूँ और उसे उससे पहले के साहित्य के सन्दर्भ में रख कर देखने का भी प्रयत्न करता रहा हूँ—जिसके आधार पर मैंने एक ओर समकालीन रचना कर्म के लिए परम्परा के मूल्य और महत्त्व का विचार किया है, दूसरी ओर यह देखने का भी प्रयत्न किया है कि समकालीन संवेदन के लिए पूरे साहित्य का क्या महत्त्व है या हो गया है। मैं समझता हूँ कि मेरे समवयसी इने-गिने ही कवि अथवा साहित्य-रचयिता होंगे जिन्होंने इस तरह लगातार साहित्य और साहित्यिक परम्परा का अध्ययन किया हो। अवश्य ही अध्यापक वर्ग में ऐसे लोग रहे और आलोचक वर्ग का तो यह कर्तव्य ही है, भले ही उनमें से बहुतों

ने उसे केवल अंशतः ही निभाया हो। मैं साहित्य रचयिता की बात कर रहा हूँ; मेरा अनुमान है कि ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया अपने साहित्य का पर्यवेक्षण विशेष अर्थवान् होता है और प्रभावी भी हो सकता है। ऐसा इस लिए नहीं कि उसकी सभी प्रतिज्ञाएँ साहित्यालोचक को भी मान्य होंगी अथवा उसके सभी निष्कर्षों को साहित्य का इतिहासकार भी सही मानेगा—सर्जक के साहित्य-चिन्तन का अर्थ और महत्त्व उसकी स्थापनाओं की मान्यता अथवा स्वीकृति पर निर्भर नहीं करता। उसका महत्त्व इस बात में है कि एक साहित्य-सर्जक के नाते वह भी संवेदन की उसी भूमि पर खड़ा होता है जिस पर उसके समकालीन दूसरे साहित्य-सर्जक होते हैं। उसके चिन्तन के प्रभावी अथवा उत्तेजक होने का कारण यही होता है, यह नहीं कि सब उस पर सहमत हो सकते हैं। संवेदन की समान भूमि पर खड़े होने के कारण उसके चिन्तन में एक पहचान होती है, एक बोध होता है जिसमें दूसरों का भी तत्काल साझा हो सकता है; और उसमें एक चुनौती होती है जिसे दूसरे टाल नहीं सकते, भले ही उसका सामना वे अपने-अपने अलग ढंग से करें और उसके बाद अलग-अलग परिणामों पर पहुँचें, अलग-अलग दिशाओं में प्रेरित हों। वे पलट कर लोहा लेना भी चाहें तो वह भी प्रेरणा की एक दिशा है; चुनौती का असर है।

जो भूमिकाएँ यहाँ संग्रहीत हैं, लेखक का विश्वास है कि उनका इस तरह का प्रभाव उस अवधि के रचना-कर्म में क्रियाशील रहा है जिस अवधि की ये भूमिकाएँ हैं—अर्थात् पूरी दो पीढ़ियों के रचना-कर्म में। यह गर्वोक्ति नहीं है, क्योंकि इसमें ऐसा कोई दावा नहीं है कि लेखक की बातें मान्य ही हुई हैं। उसके बहुत से विचारों का विरोध भी हुआ है और सहमति की अपेक्षा विरोध ही अधिक मुखर भी हुआ है; लेकिन उन विचारों को रचनाकार के लिए संगत और अनुपेक्षणीय अवश्य माना गया है। विरोधियों को भी अपने विरोध के मुद्दों में उनके कारण संशोधन करना पड़ा है।

यों तो भूमिका-रूपी इन छोटे-बड़े निबन्धों को एकत्र छाप देने के लिए इतना कारण यथेष्ट है। लेकिन मेरे जैसा व्यक्ति केवल बाहर कारण खोज कर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, आभ्यन्तर कारण और संगति की पड़ताल भी करना चाहता है। प्रकाशक का सुझाव जब मैंने सिद्धान्ततः मान लिया तो इन भूमिकाओं को इकट्ठा कर लेखन के काल-क्रम में लगा कर मैंने फिर से जाँचा। मुझे इस बात से सन्तोष हुआ कि उनमें एक लगातार विकासमान साहित्य-दृष्टि क्रिया-शील दीखती है। उसमें जो विकास हुआ है उसके कारण पहले की कुछ मान्यताएँ संशोधित होते-होते लगभग नगण्य भी हो गयी हैं, लेकिन ऐसा विचारों के शोध के

क्रम में ही हुआ है और इससे कुछ आधारभूत बातें और स्पष्ट हो कर परिपुष्ट ही हुई हैं। लेखक की इन भूमिकाओं को समान्तर प्रतिपादित विचारों के बराबर रख कर जाँचा जाय तो यही दीखेगा कि इन भूमिकाओं के द्वारा स्थापित की गयी विचार-सरणि समकालीन रचनाकारों को प्रभावित भी करती रही है और चुनौती भी देती रही है। बल्कि रचनाकारों को ही नहीं, इन भूमिकाओं ने समकालीन आलोचना की परिपाटियों को भी प्रभावित किया है और हिन्दी आलोचना को कई नये शब्द और नयी अवधारणाएँ भी दी हैं जिनकी समकालीन सन्दर्भ में अत्यन्त आवश्यकता थी। अगर इस शब्दावली और इन अवधारणाओं का प्रयोग स्वयं 'अज्ञेय' की ही आलोचना में भी किया गया तो यह उनके सामर्थ्य और उनकी अर्थवत्ता का ही प्रमाण है, उनके भ्रान्त होने का नहीं।

लेकिन इन भूमिकाओं की आभ्यन्तर संगति का आधार केवल इतना नहीं है। विचारों के इस क्रमिक विकास ने 'अज्ञेय' के भी रचना-कर्म को प्रभावित किया है। मेरी आत्मशोधक प्रवृत्ति का एक पहलू यह भी है कि मुझे इतना काफ़ी नहीं जान पड़ता कि ऐसी आलोचना, सिद्धान्त या प्रतिमान सामने रख सकूँ जिनकी कसौटी पर मेरी रचनाएँ खरी उतरें, अर्थात् मेरे आलोचना-सम्बन्धी विचार केवल अपनी वकालत के लिए नहीं रहे हैं। विचारों की एक स्वतन्त्र यात्रा भी रही है और उससे मैं जिन परिणामों पर पहुँचता रहा हूँ उन्हें मैंने स्वयं अपने रचना-कर्म पर भी लागू किया है—उसका परीक्षण और शोध भी उनके आधार पर किया है। ऊपर मैंने कहा कि मेरी इन संकलित भूमिकाओं को उनके समान्तर रचना-कर्म के साथ रख कर देखा जा सकता है; यह भी कहूँ कि उन्हें स्वयं मेरे अपने रचना-कर्म के समान्तर रख कर देखा जा सकता है।

जैसा मैंने कहा, मेरी कुछ अवधारणाएँ संशोधित होती-होती नगण्य ही हो गयीं—कहा जा सकता है कि पीछे छूट गयीं। ये तो उस तरह के परीक्षण में स्वयं सामने आ जायेंगी जिसका प्रस्ताव मैंने ऊपर किया है। इसलिए उनकी ओर अलग से ध्यान दिलाना यहाँ आवश्यक नहीं है। लेकिन इन भूमिकाओं को एकत्र देख कर अपनी दृष्टि की एक कमी मुझे खटकी, जिसका उल्लेख यहाँ कर देना उचित होगा। यह नहीं कि जो कुछ इन भूमिकाओं में कहा गया वह उस कमी के कारण कट जाता है। यह भी नहीं कि कुछ ऐसा था जो मुझे नहीं दीखा पर जिसे दूसरों ने देख लिया था। केवल इतना ही कि परम्परा के मूल्यांकन और उसके नवीकरण में और सर्जनात्मक साहित्य में होनेवाले परिवर्तन के मूल

में क्रियाशील कुछ कारणों की ओर मेरा ध्यान कुछ देर से गया और इस लिए उसकी पूरी प्रक्रिया की समझ भी कुछ देर से विकसित हुई। मैं चाहता तो इस बात से सन्तोष कर लेता कि दूसरों का ध्यान तो उधर और भी बाद में, बल्कि तभी गया जब मैंने उस प्रक्रिया की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। लेकिन अपनी कमसमझी की यह सफ़ाई देना कि दूसरों ने तो उन बातों को और भी कम समझा था मेरे स्वभाव के विरुद्ध है।

यह प्रक्रिया है वाचिक रचना और श्रुति-परम्परा से लिखित रचना और पठन-परम्परा तक विकास और सम्प्रेषण की स्थितियों अथवा पद्धतियों के इस आमूल परिवर्तन का रचना पर प्रभाव। इस बात का तो मुझे सन्तोष है कि सम्प्रेषण पर मैं आरम्भ से ही बल देता रहा और केवल आत्माभिव्यक्ति के तर्क को मैंने कभी स्वीकार नहीं किया—अभिव्यक्ति भी दूसरे पर होती है, इस लिए अभिव्यक्ति को भी सम्प्रेषण-प्रक्रिया से अलग किया ही नहीं जा सकता। लेकिन सम्प्रेषण के सैद्धान्तिक महत्त्व को पहचानते और स्वीकार करते हुए भी जब तार सप्तक की भूमिका लिखी गयी तब मैंने इस बात को नहीं देखा था कि कविता के स्वभाव में ही इस कारण कितना परिवर्तन हो जाता है कि वह सुनायी जाने-वाली और समाज में सुनी जानेवाली न हो कर, अकेले बैठ कर पढ़ी जाने के लिए रची जा रही है। सम्प्रेषण की प्रणालियों का यह मौलिक रूपान्तर कवि और उसके भावक के सम्बन्ध का मौलिक रूपान्तर है, जिसके कारण काव्य का स्वरूप बदल जाता है। यह विचार और इस पर आधारित समकालीन काव्य तथा उसकी परम्परा का नया मूल्यांकन मैंने अन्यत्र अपने निबन्धों में प्रस्तुत किया है, लेकिन इन भूमिकाओं में उसका विवेचन नहीं किया है, केवल बाद की दो-एक में उसका संकेत भर है। यों तो यह संयोग की ही बात है कि यह पक्ष किसी काव्य-ग्रन्थ की भूमिका में विवेचित होने से रह गया; लेकिन इन भूमिकाओं को पढ़ कर स्वयं मेरा ध्यान इस बात की ओर गया और मुझे यह उचित जान पड़ा कि इस कमी को पाठक के सामने स्वीकार कर लूँ। उस स्वीकार से मुझे उस स्थिति का संशोधन कर लेने का भी मौका मिलता है और उन दूसरे लेखों की ओर ध्यान दिलाने का भी जिनमें इस प्रक्रिया का विस्तार से विवेचन हुआ है।

इस नयी दृष्टि से देखने पर स्वाभाविक था कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक नया परिदृश्य भी मेरे सामने खुले। जिसे 'द्विवेदी युग' कहा जाता है उससे छायावाद के कवि कहाँ अलग हो रहे थे—चाहे सजग विद्रोह करते हुए, चाहे आवश्यकता से प्रेरित—इस पर तो विचार इन भूमिकाओं में भी हुआ है

और बाहर तो विस्तार से हुआ ही है। उसी प्रकार छायावाद के काव्य से वह काव्य कहाँ और किन कारणों से अलग हुआ जिसे प्रयोगशील, प्रयोगवादी अथवा कुछ बड़े सन्दर्भ में नयी कविता कहा जाता है, इसका भी काफ़ी विचार इन भूमिकाओं में तथा अन्यत्र हुआ है। जो विश्लेषण हुए हैं तथा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं उनमें मतैक्य नहीं है, यह तो ठीक है; पर वहाँ जो मतभेद है उसका कारण यह देने में कुछ प्रश्न स्पष्ट हो जाते हैं कि यह विवेचन और विश्लेषण साधारणतया दो दृष्टियों से हुआ है जिनकी मूल प्रतिज्ञाएँ अलग-अलग हैं। एक विचारधारा की प्रतिज्ञाएँ मान लेने पर हम एक परिणाम पर पहुँचेंगे ही; इसी तरह दूसरी की प्रतिज्ञाएँ मान लेने पर वही दूसरा परिणाम सामने आयेगा जो आता रहा है। इस प्रकार जो मतभेद लक्ष्य होता है उसका कारण विचार के आरम्भ-बिन्दु में ही मिल जाता है। ऐसे मतभेद का निराकरण तभी सम्भव है अगर आरम्भ-बिन्दु की मूल प्रतिज्ञाओं को एक दूसरे के निकट लाया जा सके—और उसका कोई उपाय नहीं है। लेकिन वाचिक रचना और श्रुति परम्परा की जिस बात की ओर मैं ध्यान दिला रहा हूँ उसका विचार अभी दोनों में से किसी परिपाटी के आलोचकों-अध्यापकों ने नहीं किया। उसके तलस्पर्शी महत्त्व और दूरव्यापी परिणामों की ओर भी अभी तक ध्यान नहीं दिया गया। बिना अविनय के कहूँ कि इधर जो थोड़ा-बहुत विचार होने भी लगा है तो मेरे ही आग्रह के कारण।

इस प्रत्यवलोकन के बाद हिन्दी काव्य-रचना की समवर्ती स्थिति के बारे में दो और बातें कहना मुझे आवश्यक जान पड़ता है। एक तो मैं उस प्रवृत्ति की ओर फिर से ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जिसका उल्लेख मैंने **चौथा सप्तक** की भूमिका में किया भी था। उस भूमिका की दो-एक विद्रूपात्मक प्रतिक्रियाएँ तो हुईं, लेकिन जिस विषमता की ओर मैंने इशारा किया था उसकी ओर अगर दो-एक सहृदय बन्धुओं का ध्यान गया भी तो उन्होंने उसके बारे में विशेष कुछ लिखा नहीं। मैं तो इस बात को काफ़ी महत्त्व देता हूँ और उस पर अधिक बल आज इस लिए भी देना चाहता हूँ कि उसके प्रति उदासीनता पर मुझे थोड़ा अचरज होता है। इतना ही नहीं, मैं सोचता हूँ कि जिस प्रवृत्ति की ओर मैंने संकेत किया है उसका कुप्रभाव केवल काव्य-सर्जना तक ही सीमित नहीं है, बल्कि नाट्य और रंगमंच को भी प्रभावित करता है। मेरे लिए तो यह एक दुःखद आश्चर्य का विषय है कि जहाँ हिन्दी में इधर साधारणतया नाट्य और विशेषतया रंगमंच

का पुनरुदय-सा होता दीख रहा है, वहाँ सारे उत्साह के बीच उसकी एक बुनियादी कमजोरी भी उभर कर सामने आ रही है। ऐसा क्यों है, यह आज सम्भव भी कैसे है, कि नाटक का तो विकास हो रहा हो और उसके आन्दोलन के बीच काव्य-नाटक के प्रति इतनी उदासीनता हो? यह क्यों और कैसे है कि एक तरफ़ तो पश्चिम के प्रतिरूपण-विरोधी और अयथार्थवादी नाटक के लिए इतना उत्साह हो और धड़ाधड़ उसके अनुवाद पुस्तकाकार और मंचीय रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हों, और दूसरी ओर काव्य-नाटकीय दृष्टि की इतनी कम समझ हो, उस दिशा में विकास बिलकुल बन्द हो? इस मूलगत विरोध को समझने के लिए क्या उसे इसी बात से जोड़कर देखना होगा कि हिन्दी रंगमंच के इस आभासीय 'उन्मेष' में अनुवाद ही का सहारा अधिक लिया जा रहा है, अर्थात् उपपन्न और परकीय प्रेरणा ही अधिक है, हिन्दी रंगमंच की दृष्टि का अपना उन्मेष नहीं हो रहा है? काव्य-नाटकीय दृष्टि की तो इतनी कमी दीखती है कि उसे एक प्रकार का अन्धापन कहा जा सकता है: इतनी कड़ी बात न कहें तो यह तो कहना ही होगा कि मानों आँखों में जाला पड़ गया है। काव्य-दृष्टि और काव्य-नाटकीय दृष्टि जिन बिन्दुओं पर मिलती हैं उनमें एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है मुखौटा अथवा नाटकीय चरित्र। दृश्य काव्य में तो मुखौटे का अथवा आहार्य का उपयोग होता ही है; श्रव्य में मुखौटे पहने नहीं जाते, न पोशाक बदली जाती है, लेकिन उसका रूपकात्मक उपयोग होता है और वह काव्य का बहुत बड़ा बल है। पुराने चरित-काव्यों में तो चरित्रों की भूमिकाएँ प्रस्तुत की ही जाती थीं। लेकिन जो नये कवि अपने को पुराने काव्य से अलग करना चाहते हैं उन्हें भी इस बात की समझ होनी चाहिए कि कविता में सब कुछ कवि के मुँह से ही नहीं कहा जाता, कवि को जो कहना होता है वह भी अधिकांशतः चरित्र के मुँह से कहलाया जा कर अधिक प्रभावशाली हो सकता है। काव्य में मुखौटा (अथवा उसका श्रव्य-प्रतिरूपक) एक धोखा नहीं है, बृहत्तर सत्यों को ज्यादा समर्थ रूप में कहने का एक साधन है। एज़रा पाउंड ने अगर अपने एक काव्य-संग्रह का नाम ही रखा पर्सोनि (मुखौटे) तो उसके मूल में यही पहचान थी कि कवि के लिए यह न केवल ज़रूरी नहीं है कि वह सदा अपनी ही बात कहे, अपने ही स्वर में बोले, बल्कि वह चरित्र ओढ़ने की नाटकीय युक्ति अपना कर अपनी बात भी अधिक प्रभावशाली ढंग से कह सकता है और अपनी बात से कहीं बड़ी बात भी बड़े सहज और स्वाभाविक ढंग से कह दे सकता है। उससे पहले ब्राउनिंग ने भी अपने एक काव्य-संग्रह का नाम ड्रामाटिस पर्सोने रखा था; वहाँ भी उन्होंने नाटकीय चरित्रों का उपयोग कथा या वृत्तान्त के लिए नहीं किया था, बल्कि इसी लिए

किया था कि भाव-संसार के सत्यों को इस प्रकार कुछ अधिक मूर्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकेगा। मैं विदेशी लेखकों का नाम इस लिए ले रहा हूँ कि जिस अनुवादजीवी वातावरण का उल्लेख मैंने किया है उसमें क्या आलोचक और क्या कवि, विदेशी प्रमाण अथवा उदाहरण से ही प्रभावित होते हैं; देशी प्रमाण तो 'घर का जोगी जोगड़ा' वाले न्याय से तिरस्कृत हो जाता है। नहीं तो जिस युक्ति की ओर मैं संकेत कर रहा हूँ वह हिन्दी जगत् के लिए नयी नहीं है, बल्कि परम्परा का एक अंग है। सारा रीति साहित्य इसका उदाहरण है: उसके नायक और उसकी नायिकाएँ सभी 'ड्रामाटिस पर्सोनि' हैं, चरित्र हैं, मुखौटे हैं, मुखौटों के श्रव्य-प्रतिरूपक हैं। और रीति काव्य ही नहीं, सारा वृत्त काव्य चरित्रों के माध्यम से बोलने की युक्ति अपनाता है और इसी युक्ति का भरपूर उपयोग छायावाद के कवियों ने भी किया है। छायावाद की जिन कविताओं में वृत्तान्त तो नहीं है लेकिन ऐतिहासिक चरित्र बोलते हैं—उदाहरण के लिए राणा प्रताप या भूषण कवि—वहाँ भी इसी युक्ति का उपयोग है। निराला ने इस युक्ति का बहुत और बड़ा समर्थ उपयोग किया है—उन कविताओं में भी जिन्हें प्रगतिवाद के प्रारम्भिक मार्ग के मील का पत्थर माना जाता है, जैसे 'दो टूक कलेजे के करता / पछताता / पथ पर आता' अथवा 'वह तोड़ती पत्थर / इलाहाबाद के पथ पर'।

एकाएक क्या हुआ कि हिन्दी का कवि कविता की इस इतनी बड़ी शक्ति को भूल गया? कवि अपने जीवन में मुखौटा न पहने, निर्भय हो कर सत्य कह सके, इसी लिए वह काव्य में—श्रव्य में अथवा दृश्य में—मुखौटे का इस्तेमाल करता था: मुखौटे के द्वारा बड़े से बड़े सत्य कहे-कहलवाये जा सकते थे। यह नयी पायी हुई नासमझी थी, या दुराग्रह, या ग़लत प्रतिज्ञा से आरम्भ करने की तर्क-विकृति, कि आलोचकों के साथ कवि भी एक तरफ़ कविता को और कविता के शब्द को 'नंगा' करना चाहने लगे और दूसरी ओर अपने जीवन और अपने सामाजिक व्यवहार में मुखौटे पहनने को तैयार हो गये! अगर रंगमंच का नया उन्मेष होना है तो उसमें काव्य-नाटकीय दृष्टि अनिवार्य है। और उसके लिए श्रव्य काव्य में भी नाटकीय दृष्टि और नाटकीय उक्ति की समझ का विकास ज़रूरी है। दूसरे शब्दों में कविता से मुखौटे अथवा चरित्र का बहिष्कार एक आत्मघाती प्रवृत्ति है। चारित्रिक स्वर नयी कविता के लिए ज़रूरी हैं; कवि को स्वयं चुप रहना सीखना होगा, समझना होगा कि कैसे स्वयं चुप रहते हुए दूसरे मुखों से, दूसरे स्वरों के द्वारा बात कहलायी जा सकती है—वह बात जिसे फिर चुप कराना सम्भव न हो....कितनी सही मुद्रा थी शमशेरबहादुरसिंह की कि 'बात बोलेगी हम नहीं'—पर फिर कितने लोग इतनी ही बात बोलते रह गये! मैंने

अन्यत्र कहा है कि आज कविता बहुत बोलती है; असल में तो मुझे यह कहना चाहिए कि आज कवि इतना अधिक बोलता है कि कविता की बोलती बन्द हो जाती है! आज कविता की रचना नहीं होती, बल्कि पद्य का इस्तेमाल होता है—और इस लिए इस्तेमाल होता है कि कवि को बोलने का अवसर मिले। फलतः कवि बोलता है, बढ़-बढ़ कर बोलता है और, उफ़, कितना बोलता है, लेकिन कविता मानों चुप हो गयी है। और अचरज यह है कि इस परिस्थिति को ले कर चिन्तित होने और उसे बदलने का उपक्रम करने की बजाय अभी यही कोशिश की जा रही है कि सभी कवि न केवल और बोलें बल्कि एक ही बात कहें और एक ही मुहावरे में ढाल कर कहें। कल्पना कीजिए कि देश-भर में सभी लाउड-स्पीकरों से एक ही रेकार्ड बज उठे, लेकिन साथ सुर मिला कर नहीं, थोड़ा आगे-पीछे—क्या उसमें कुछ सुनाई दे सकेगा ?

दूसरी बात जो कहना मुझे आवश्यक जान पड़ता है छन्द से सम्बन्ध रखती है। निराला को हमने छन्द को मुक्त करने का श्रेय दे दिया और निःसन्देह निराला की पहल इस क्षेत्र में महत्त्व रखती है, यद्यपि मुक्त छन्द को प्रतिष्ठित करने में दूसरे भी कवियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा—उदाहरण के लिए सियारामशरण गुप्त का। और निराला के अनेक प्रयोग ऐसे भी रहे जो अनुकरणीय नहीं हैं, सीख देनेवाले भले ही हों। लेकिन मुक्त छन्द में छन्द-मुक्ति क्या है ? सन्देह होता है कि इसकी समुचित समझ बहुत कम कवियों में विकसित हुई है। छन्द के अभ्यास की प्रथा तो उठ ही गयी, और यह कहना कठिन है कि यह बुरा ही हुआ; लेकिन छन्द का बोध अभ्यास से अलग चीज़ है। मात्राएँ और वर्ण गिनना और तुकों के जोड़ कंठस्थ रखना अभ्यास का वह अंग था जिसके छूट जाने से विशेष अहित नहीं हुआ; किन्तु श्रुति की एक दीक्षा थी जो पुरानी स्थितियों में छन्द के अभ्यास के साथ-साथ मिल जाती थी। यह पक्ष उपेक्षा के कारण अब लगभग खो गया है। श्रुति-संवेदन के प्रति यह उपेक्षा और भी दारुण इस लिए हो गयी कि काव्यालोचन के राजनीतिकीकरण के कारण ऐसे सब विचारों को 'रूपवाद' कह कर उपहास का विषय बनाया गया। इसी तरह 'बोल-चाल की भाषा के निकट आने' के आग्रह को भी ग़लत समझा गया और उसका अर्थ यही लगाया गया कि गद्य और पद्य की लय में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। आज तो बहुत से कवियशःप्रार्थी ऐसे भी हैं जो यह भी नहीं बता सकेंगे कि लय कहते किसे हैं और आधुनिक कविता में वह कहाँ मिलती है। वे प्रायः यही मानते पाये

जायेंगे कि एक तो गीत होता है जिसमें छन्द, तुक, ताल, लय सब कुछ का विचार होता है (और जो इसलिए एक घटिया काव्य-रूप है), और दूसरे आधुनिक कविता होती है जो मुक्त छन्द में होती है, अर्थात् उसमें इन सब चीज़ों में से किसी का विचार नहीं होता और यति का निर्णय भी बिलकुल स्वैर रूप से किया जाता है। ऐसे बहुत से कवि निराला और मुक्तिबोध की दुहाई भी देंगे, उन्हीं की परम्परा—नहीं, उनकी परम्परा में होने का नहीं, बल्कि उनकी विरासत के हकदार होने का दावा भी करेंगे।

यह ठीक है कि गीत आज की कविता की मुख्य धारा नहीं है, न हो सकती है। मुख्य धारा वह कभी नहीं थी और संसार के किसी भी काव्य के इतिहास में कभी नहीं हुई। काव्य-सर्जना की वह एक छोटी उपधारा ही रही है। ऐसा हुआ हो सकता है कि किसी काल में गीत अथवा पद कुछ अधिक लिखे गये हों; ऐसा भी हो सकता है कि किसी समय में या किसी धारा में कुछ कवियों ने मुख्यतया गीत ही लिखे हों (उदाहरणतया, छायावादी धारा में महादेवी वर्मा ने)। लेकिन किसी भी समय या किसी भी धारा का समग्र मूल्यांकन उसके गीतों के आधार पर नहीं हुआ है। पर इसका कारण यह नहीं रहा है कि गीतों में छन्द, तुक, ताल आदि के बन्ध ज्यादा कड़ाई से माने गये हैं। बल्कि ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें इससे ठीक उलटी बात लक्षित हो, यानी वर्णों और मात्राओं की गिनती के मामले में गीत अपने समय के काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छन्द दीखे। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि गीत अथवा पद में गेयता का भी विचार रहता है और इसलिए उसे संगीत के क्षेत्र से भी एक तरह की स्वाधीनता मिल जाती है। कविताई की दृष्टि से वह वर्णों और मात्राओं की गिनती की उपेक्षा भी कर सकता और करता रहा—अगर वह इस कमी की पूर्ति के लिए संगीत के बन्धन का निर्वाह करता रह सका। लेकिन गीत का विचार यहाँ विस्तार से करने की कोई आवश्यकता नहीं है; हमें छन्द-मुक्ति की, 'मुक्तता' और उसके आभ्यन्तर नियन्त्रण की ही बात करनी है। निराला ने 'छन्द के बन्ध' तोड़े; निराला की विराट् प्रतिभा की अवज्ञा किये बिना भी यह कहा जा सकता है कि कहीं-कहीं उनका विद्रोह छन्द को तोड़ कर ही रह गया और उसके बदले कोई दूसरा अनुशासन उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। जहाँ वह अनुशासन है, वहाँ तो उनके मुक्त छन्द की शक्ति भी विभोर कर देनेवाली है, लेकिन जहाँ नहीं है वहाँ हमें वस्तु अथवा कथ्य की ओर ध्यान दे कर ही जाना पड़ता है। मुक्तिबोध में छन्द की समझ अपेक्षया कम लक्षित होती है। फिर मुक्तिबोध को वह सुविधा भी नहीं थी जो निराला को सर्वदा उपलब्ध थी क्योंकि निराला संगीत जानते थे और लय का भाव पैदा

करने के लिए हमेशा संगीत के स्वर का सहारा ले सकते थे। छन्द के बन्ध तोड़ कर भी निराला संगीत के आकर्षण से सदैव बँधे रहे और उनके अन्तिम वर्षों की रचनाएँ, एक-आध अपवाद को छोड़ कर, सभी गेय ही रहीं। जिस तरह विषय और वस्तु के क्षेत्र में तरह-तरह के प्रयोग करके और प्रगतिवादी विचारों अथवा भावनाओं का समर्थन करके भी वह फिर से वेदान्त की ओर लौटे जो उनकी रचना का संवादी स्वर था, उसी तरह छन्द के क्षेत्र में भी वह तरह-तरह के विद्रोह और प्रयोग करके भी फिर उसी बँधे हुए छन्द और गेय लयों की ओर लौटे जो उनके गीतितत्त्वमय स्वर का अंग बनी रहीं। मुक्तिबोध के मुक्त छन्द का विचार करें तो हम पाते हैं कि उसमें आरम्भ से अन्त तक एक स्पष्ट लय तो सदैव वर्तमान रही। लय का वैविध्य मुक्तिबोध में नहीं है, इनी-गिनी लयों का ही उन्होंने इस्तेमाल किया है। लेकिन जहाँ इस अपनी सीमा के भीतर उनका लयबोध बड़ा स्पष्ट है, वहाँ दूसरी तरफ़ समग्र रूपाकार का कोई बोध मानों उन्हें है ही नहीं—उनकी शायद ही कोई कविता संरचना की दृष्टि से सम्पूर्ण हो, शायद ही किसी में सघन संरचनात्मक गठन दिखाई पड़े। उनकी अधिकतर कविताएँ मानों चलती जाती हैं तो चलती जाती हैं और फिर रुक जाती हैं, पूरी या समाप्त नहीं होतीं।

कहना होगा कि वास्तविक छन्द-मुक्ति आज के अधिकांश नये कवियों को नहीं मिली है। इस कमी की ओर उनका अपना ध्यान भी नहीं गया है और समकालीन आलोचक ने भी इधर ध्यान नहीं दिलाया है। शायद वे ऐसा मानते ही न हों कि यह एक कमी है। मेरी समझ में तो वास्तविक छन्द-मुक्ति वही होगी जब उसका एक नया अनुशासन हमने प्राप्त कर लिया होगा। मुक्त छन्द अनुशासनरहित पद-रचना नहीं है; वह छन्द से मुक्त नहीं है, बल्कि मुक्तियुक्त छन्द है। और वह मुक्ति एक साधारण अनुशासन नहीं है। वास्तविक छन्द-मुक्ति के लिए लय और उसके साथ संरचनात्मक गठन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी लिए मैं बल दे कर कहना चाहता हूँ कि इस दिशा में नयी प्रवृत्तियों की उदासीनता खेदजनक है। उस उदासीनता ने काव्य-लय के प्रति एक नया बहरा-पन ही पैदा किया है और समकालीन कविता के बड़बोलेपन ने इस बहरेपन को और बढ़ावा ही दिया है। जब कविता भी चीखने लगती है और आलोचना भी हल्ला बोलने लगती है तब बहरेपन की एक क्रियात्मक उपयोगिता तो हो जाती है : कम सुनना अनावश्यक शोर से बचने का उपाय हो जाता है! आज का कवि राजनीतिक दृष्टि से अधिक शिक्षित हो सकता है, उसकी सामाजिक चेतना भी अधिक जीवन्त हो सकती है—यद्यपि यह भी निर्विवाद रूप से प्रमाणित तो नहीं

हैं—लेकिन काव्य-बोध की दृष्टि से ऐसा नहीं लगता कि वह इस समय आगे बढ़ रहा है, बल्कि यही जान पड़ता है उसकी समझ भी आहत हुई है, उसकी दीक्षा भी अधूरी है, शब्द का संस्कार उसमें कम है, श्रुति-संवेदन भी उसका दुर्बल है और भाषा पर भी उसका अधिकार क्षीणतर है। यह नहीं कि इसके अपवाद नहीं हैं, लेकिन सामान्यतया यह अभियोग उचित ही जान पड़ता है। जो अपवाद हैं; जिन्हें यह शोर चुप नहीं करा सका है या जिनका संयत स्वर अपने धीमेपन के कारण ही इस शोर के बीच अलग सुना जा सकता है, उन्हीं के सहारे आशा बँधती है। शायद अगर विरासत की चिन्ता कुछ कम हो जाय और रचना की चिन्ता कुछ अधिक, तो कविता का हित ही होगा। इस समय तो ऐसा दीखता है कि विरासत की चिन्ता उन्हीं को शायद अधिक है जिन्हें अपनी वीर्य-वत्ता का भरोसा सबसे कम है। नहीं तो साहित्य-रचना के क्षेत्र में तो यह बहुत ही स्पष्ट दीखते रहना चाहिए कि परम्परा तो वही होती है जो एक जीवन्त वंशक्रम में स्वयं बोलती है और अपनी जीवन्तता के कारण पहचानी जाती है।

मैं आशा करता हूँ कि ये भूमिकाएँ पाठकों को एक बार फिर अपने युग की रचना और काव्य-सम्पत्ति का पर्यवेक्षण, आस्वादन और मूल्यांकन करने की प्रेरणा देंगी। यह मैंने कभी आवश्यक नहीं माना कि लोग मुझसे सहमत ही हों; लेकिन मेरी बात अगर सुतर्कित है और उन्हें फिर से सोचने को बाध्य करती है तो उसे ही मैं अपनी सफलता समझता हूँ और उसी से सन्तुष्ट हूँ। विचार करने के बाद वे अपने स्वतन्त्र निर्णयों पर पहुँचें; वे निर्णय अगर मेरी स्थापनाओं के प्रतिकूल भी हों तो मैं उन्हें अपने लिए प्रेरणाप्रद ही मानूँगा। मैंने लगातार सम-कालीन साहित्य का परीक्षण और उसकी आलोचना की है लेकिन कोई सर्वमान्य स्थापना करने के लिए नहीं, स्वयं अपनी समझ बढ़ाने के लिए और अपने युग के रचना-कर्म के लिए एक विवेकवान्, आस्वादनक्षम, सहृदय पाठक तैयार करने के लिए। यहाँ संग्रहीत भूमिकाएँ भी इसी प्रयत्न की कड़ियाँ रहीं और उनकी इस भूमिका का प्रयोजन भी यही है।

खड़ी बोली की कविता : पृष्ठभूमि

समकालीन साहित्य-प्रवृत्तियों का निरूपण और मूल्यांकन किसी भी देश या काल में एक दुस्तर कार्य होता है। हमारे आज के युग में तो यह कार्य और भी कठिन है, क्योंकि समकालीन जीवन की प्रगति इतनी द्रुत, उलझी हुई और जटिल है कि उसके विकास की दिशा पहचानना, उसकी प्रवृत्ति के सूत्र पकड़ना एक अन्तर्द्रष्टा का काम हो गया है। और अन्तर्द्रष्टा का सहज-बोध स्वभावतः ऐसी वस्तु है कि उसे हम तत्काल स्वीकार नहीं कर पाते, काल की कसौटी पर ही उसकी परख होती है और कालान्तर में ही हम उसकी प्रामाणिकता पहचानते और अंगीकार करते हैं।

ऐसी स्थिति में समकालीन हिन्दी काव्य के बारे में दावे के साथ कुछ कहना जोखम का ही काम है। किन्तु यदि वादी हो कर कोई बात न कही जाय, अध्येता के रूप में निकट अतीत की प्रवृत्तियों को पहचान कर उनके आधार पर समकालीन कृतित्व के और सम्भाव्य प्रगति के बारे में कुछ अनुमान किया जाय, तो उसे निराधार कल्पना न कहा जा सकेगा, और समकालीन कृति-साहित्य के अध्ययन में उससे कदाचित् कुछ प्रकाश भी मिल सकेगा।

हिन्दी काव्य के इतिहास की परम्परा में जो विभिन्न आन्दोलन आये उन्हें ध्यान में रखते हुए, उन्नीसवीं शती में खड़ी बोली और उसके काव्य-साहित्य के नवजागरण के विषय में कोई एक साधारण स्थापना करनी हो तो यही बात सबसे अधिक युक्तिसंगत और अभिप्रायपूर्ण होगी कि खड़ी बोली का अभ्युत्थान साहित्य में लौकिकता की प्रतिष्ठा और स्वीकृति का पर्याय था। निःसन्देह रीतिकाल के साहित्य में भी एक प्रकार की लौकिकता थी और उत्तर-रीतिकाल की अतिरंजित शृङ्गारिकता में ऐन्द्रिय उत्तेजना के उपकरणों से आगे किसी गम्भीर आध्यात्मिक अभिप्राय की खोज पाठक की विश्वास-क्षमता पर ज़ोर डालती है; तथापि राजा के मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करनेवाला कवि भी उस प्राचीन परम्परा का ही निर्वाह करता था जिसके अनुसार राजा में देवता का अंश होता है : राजभक्ति भी धर्म-भक्ति का और इस प्रकार भगवद्भक्ति का एक अंग होती है। हिन्दी काव्य की परम्परा में उस समय तक धर्म-भावना प्रधान रही; मुस्लिम काल में जितने साहित्यिक आन्दोलन और उत्थान हुए सबकी मूल प्रेरणा भी धार्मिक ही रही। उन्नीसवीं शती में जिस साहित्यिक उन्मेष का आरम्भ

हुआ, वही पहले-पहल इसका अपवाद हुआ : उसकी मूल प्रेरणाएँ धार्मिक न हो कर लौकिक रहीं और उनमें लोक-चेतना न केवल बनी रही वरन् क्रमशः और भी स्पष्ट और व्यापक होती गयी। जिस सामाजिक और राजनीतिक परि-स्थिति में इस लौकिकता का उदय हुआ, उसके सन्दर्भ में ही इस का आविर्भाव और विकास ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

खड़ी बोली का उत्थान उस समय आरम्भ हुआ जब कि भारत की केन्द्रीय सत्ता तो विघटित हो ही चुकी थी, उसके उत्तराधिकारी विभिन्न मुस्लिम राज्य भी हीन और निःसत्व थे और देशी रजवाड़े तथा सामन्ती शासन भी जीर्णावस्था को प्राप्त हो चुके थे। समाज दलित, निर्धन और असन्तुष्ट था। इस प्रकार समाज के भीतर विरोध और संघर्ष के लिए भूमि तैयार थी। किन्तु इन सोयी हुई सामाजिक शक्तियों को जगाने और धार देने के लिए जिस आध्यात्मिक प्रेरणा की आवश्यकता थी उसका अभाव था। वह प्रेरणा उसे पश्चिमी विचार-दर्शन के बौद्धिक और भाविक धक्के से मिली। लम्बी किन्तु ह्रासगत सांस्कृतिक परम्परा-वाली एक वृद्ध, विशृंखल, वर्तमान दैन्य और भविष्यत् अनिश्चय के कारण अतीतोन्मुख जर्जर जाति को, एक मिश्र संस्कृति और तरुण परम्परावाली किन्तु समृद्ध और समर्थ जाति की आत्म-विश्वास भरी भविष्योन्मुखता ने उसका सच्चा रूप उघाड़ कर दिखा दिया। इस मार्मिक आघात से भारतीय समाज तिलमिला उठा, साथ ही उसे एक नयी दृष्टि मिली; अपने ही सम्बन्ध में उसमें एक नया और तीव्र जिज्ञासा-भाव उत्पन्न हुआ। यह जिज्ञासा भी लौकिक थी और इसके उत्तर भी लौकिक ही हो सकते थे।

पश्चिम के सम्पर्क से जो बहुविध प्रमन्थन आरम्भ हुआ उससे भारतीय समाज बड़ी तेजी से बदलने लगा। सामाजिक क्षेत्र में विचारों के इस खमीर ने नयी केन्द्रोन्मुख प्रवृत्तियों को उकसाया : विशृंखल और विभाजित समाज को पुनः संगठित करने की भावना एकाधिक सामाजिक आन्दोलनों में प्रकट हुई। आर्य समाज और ब्राह्म समाज दोनों उभय-क्षेत्रीय आन्दोलन थे, उनका धार्मिक पक्ष भी नगण्य नहीं था पर विशेष महत्त्व उनकी सामाजिक भावना का ही था। उनका धार्मिक आग्रह (यह बात ब्राह्म समाज की अपेक्षा आर्य समाज के विषय में और अधिक सच है) सुधार द्वारा आत्मरक्षा का था, उनका सामाजिक आग्रह एक स्वस्थतर संगठन था। दोनों ही क्षेत्रों में रूढ़िभार से मुक्ति का प्रयत्न था।

राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्र में इस खमीर ने इतिहास के नये शोध की प्रवृत्ति दी : विदेशीय सम्पर्क और प्रभाव का एक नया रूप हमारे सम्मुख आया। सामन्तों-रजवाड़ों के सन्धि-विग्रहों और गठबन्धनों से ऊपर उठ कर हम यह स्पष्ट

देखने लगे कि नयी विदेशी सत्ता राजनीतिक और आर्थिक शोषण का यन्त्र है, और हिन्दू-मुस्लिम सभी समान रूप से उसके शोषित और शोष्य हैं। ('चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता' अथवा 'भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि मैं तन-मन-धन मूसै....अँगरेज'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)। भारत लुट रहा है, और भारत का धन विदेशों को चला जा रहा है, इसके तीखे अनुभव ने व्यापक राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया।

शिक्षा और मनोविकास के क्षेत्र में इसी खमीर ने मानवीय दर्शन की प्रतिष्ठा की। विकासवाद के सिद्धान्त और उससे उद्भूत मानव की श्रेष्ठता के बोध ने एक वैचारिक क्रान्ति ला उपस्थित की; उसके प्रभाव की गहराई और व्यापकता देखते हुए उसे आध्यात्मिक क्रान्ति कहना भी अत्युक्ति न होगा। मानव अभी तक एक देवोन्मुख अकिंचन तत्त्व था, अब वह सहसा सृष्टि का केन्द्रबिन्दु बन गया। निःस्सन्देह ईश्वरीय सृष्टि का एक अंग होने के नाते भी उसके अधिकार और उत्तरदायित्व निश्चित किये जा सकते थे—धार्मिक आचार और धर्माश्रित नैतिकता में द्विधा या अनिश्चय नहीं था; पर प्राकृतिक सृष्टि का शीर्षस्थानीय अथवा मानवीय समाज का केन्द्र होने पर उसके सारे प्रतिमान और मूल्य बदल गये और उसके आचार अथवा नैतिकता की कसौटी ईश्वर-निष्ठा न रह कर मानव-निष्ठा हो गयी। जिस लौकिकता की चर्चा हम कर रहे हैं, वह वास्तव में 'मूल्यों के पुनर्मूल्यन' का ही पहलू है। मूल्यों अथवा प्रतिमानों और संस्कृतियों का गहरा सम्बन्ध होता है—निश्चित प्रतिमानों पर आधारित सर्वतोमुखी रचनाशील प्रगति ही तो संस्कृति है—पर इस सम्बन्ध में ही यह बात निहित है कि नये प्रतिमान सहसा नहीं बन जाते, वे एक सांस्कृतिक परम्परा माँगते हैं। सांस्कृतिक परम्पराओं का उन्मूलन तो सरल होता है, नयी परम्पराओं का रोपण उतना सुकर नहीं; पुराने मूल्यों का अवमूल्यन आसानी से किया जा सकता है पर नये मूल्यों की प्रतिष्ठा दीर्घकालीन प्रयास माँगती है। लौकिकता का उदय और विकास भी बिना अव्यवस्था के नहीं हुआ। इस काल में समय-समय पर जो नास्तिवादी या नकारात्मक दर्शन सामने आते रहे, वे उस दिग्भ्रम को ही सूचित करते हैं जो देवोन्मुखता से हट कर मानवोन्मुखता तक पहुँचने के संक्रमण-काल में स्वाभाविक थे। इस दिग्भ्रम ने और अधिक व्यापक अराजकता का रूप क्यों नहीं लिया, इसके विशद अध्ययन का यहाँ स्थान नहीं है, यहाँ इतना संकेत यथेष्ट होगा कि अराजकतावादी दर्शनों की धूम इसी काल में रही, पर उनका आदर्शवाद कार्यान्वित न हो सका क्योंकि व्यवहार को अनुशासित करनेवाली सामाजिक शक्तियाँ भी इस काल में प्रकट हुईं।

इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति और उसके प्रभावों का अध्ययन तत्कालीन राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी समझने के लिए आवश्यक है। यूरोप में राष्ट्रीयतावाद की जो लहर फैली, उसका औद्योगिक क्रान्ति से गहरा सम्बन्ध था। इस कारण यूरोप में राष्ट्रीयतावाद ने एक आक्रामक रूप लिया जिसका चरम रूप उपनिवेशवाद हुआ। दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति का इतना ही गहरा सम्बन्ध उस उदार मानवीय दृष्टि से था जिसने मानव-स्वाधीनतावादी अथवा 'लिबरल' दर्शनों को जन्म दिया। इधर के राजनीतिक और सिद्धान्तवादी संघर्षों के कारण हम बहुधा आर्थिक संघर्ष के प्रभावों को ही सर्वोपरि महत्त्व देने की भूल कर जाते हैं; हमें यह न भूलना चाहिए कि मानवी स्वाधीनता के जो नये मूल्य हमें मिले वे इसी युग की देन हैं। 'मानव स्वतन्त्र है, या हो सकता है' लिबरल दर्शनों को अनुप्राणित करनेवाला मूल विश्वास यह था; उस स्वतन्त्रता की परिभाषा और रक्षा-व्यवस्था के बारे में विचार भिन्न हो सकते थे। मानव की स्वतन्त्रता की परिभाषा का विवाद हल हो चुका हो ऐसा नहीं है; पर उसके लिए निरन्तर आन्दोलन और सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों के अतिवाद द्वारा मानव-मात्र के एक नयी मानसिक दासता में बँध जाने की सम्भावना का विरोध करने की शक्ति हमें इसी विश्वास से मिली। कलाकार की स्वाधीनता का आदर्श मानव की स्वाधीनता के आग्रह का एक पहलू था। इसके अपने भी अतिवाद थे, जो आज ऐतिहासिक कौतुक-वस्तु से अधिक महत्त्व नहीं रखते, पर आज के आस्थावान् कलाकार की स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्र विवेक का आग्रह उन्नीसवीं शती के 'कला के लिए कला' के आन्दोलन से सर्वथा भिन्न है।

तो खड़ी बोली के माध्यम से हिन्दी साहित्य का जो उन्मेष उन्नीसवीं शती के मध्य से आरम्भ हुआ, उसकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह नयी लौकिकता अथवा लौकिक दृष्टि ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रवृत्ति को एक घना पुंजित, आत्म-चेतन और सोद्देश्य रूप दिया। ह्रासशील दरबारों के दूषित वातावरण में क्षयग्रस्त होते हुए हिन्दी साहित्य को उबार कर वह नयी लोकभूमि पर लाये। इस प्रकार के मौलिक परिवर्तन किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं लाये जाते, यद्यपि मौलिक प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों की छाप उन पर पड़ सकती है। भारतेन्दु भी जिस आन्दोलन के निमित्त बने, उसे ऐतिहासिक कारणों की पृष्ठिका के साथ ही देखना होगा। उन्नीसवीं शती का भारत ऐसे परिवर्तन के लिए तैयार ही था। जैसी स्थिति थी, उसमें राष्ट्रीयतावाद वैसा विकृत रूप नहीं ले सकता था जैसा उसने यूरोप में लिया, भारत में वह स्वदेश प्रेम के रूप में

ही प्रकट हुआ। उसने जातीय उत्कर्ष की भावना को उभारा और साधारणतया देश को एक नयी सांस्कृतिक चेतना दी। अपनी सभ्यता और संस्कृति का गर्व इस सांस्कृतिक नवचेतन का ही फल था और स्वभाषा-प्रेम उस गर्व का एक पहलू।

किन्तु उन्नीसवीं शती के भारत में लौकिकता के उदय की, और उसके सम्बन्ध में भारतीय साहित्यों के अथवा विशेषतया हिन्दी साहित्य के नवोन्मेष की चर्चा एक बात है, और खड़ी बोली के अभ्युत्थान और व्यापक प्रसार की चर्चा दूसरी बात। खड़ी बोली के अभ्युदय के कारण स्वतन्त्र परीक्षण माँगते हैं, क्योंकि परवर्ती प्रगति को ठीक परिपार्श्व में रखने के लिए केवल साहित्य की अन्तःप्रवृत्तियों को नहीं, भाषा की प्रवृत्तियों को भी समझना अनिवार्य है।

हिन्दी साहित्य में लौकिक दृष्टि का आविर्भाव, और खड़ी बोली में साहित्य-रचना के नवयुग का आरम्भ दोनों एक साथ हुए, साहित्य के इतिहास का कोई भी अध्येता इसे लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या यह केवल आकस्मिक संयोग था, या कि दोनों घटनाओं में कोई सम्बन्ध था। क्या कारण था कि हिन्दी की रचनात्मक प्रतिभा ने साहित्य की एक सम्पन्न, मधुर और परिमार्जित प्रतिष्ठित भाषा से विमुख हो कर एक रूखी और अटपटी बोली को अपनाना आरम्भ कर दिया? दो हज़ार वर्ष पहले बौद्ध साहित्य ने भी संस्कृत को छोड़ कर प्राकृत को अपनाया था, किन्तु इस ऊपरी समानता का ऐतिहासिक अभिप्रेत कितना है इस पर विवाद हो सकता है। क्योंकि ब्रज-भाषा केवल साहित्य की या किसी विशिष्ट अभिजात वर्ग की भाषा ही रही हो या रह गयी हो ऐसा नहीं था, वह भी एक जीवित सहज प्रचलित जन-भाषा थी। बल्कि इस काल की हिन्दी रचनाओं में जो खड़ी बोली व्यवहृत हुई—जिसे यथार्थ दृष्टि से देखने पर एक सीमा तक चेष्टित, कृत्रिम पुस्तकीय भाषा स्वीकार करना होगा—उससे ब्रज-भाषा कहीं अधिक जन-भाषा थी: उसका एक स्पष्ट निर्दिष्ट फिर भी विस्तीर्ण प्रदेश था जहाँ वह मातृभाषा के रूप में सहज-भाव से बोली और बरती जाती थी। और फिर यदि यह भाषा-परिवर्त्तन संस्कृत को छोड़ कर पालि प्राकृत अपनाने जैसी क्रिया थी, अर्थात् उसकी जड़ में एक अभिजात संस्कारी भाषा का तिरस्कार करके सहज लोक-भाषा का व्यवहार करने की सामाजिक विद्रोह की भावना थी, तो साहित्यिक ब्रज-भाषा को छोड़ कर विभिन्न आंचलिक बोलियों या मातृभाषाओं को क्यों नहीं अपनाया गया? केवल एक बोली और वह खड़ी बोली, क्यों इस सामाजिक विद्रोह का अस्त्र बनी? और इससे भी अधिक मार्के की बात : इस अस्त्र का

समर्थ और निष्ठापूर्ण प्रयोग खड़ी बोली के अपने प्रदेश में न होकर दूर बनारस में क्यों हुआ, जो कि एक दूसरी और उतनी ही समर्थ जनभाषा का प्रदेश था ? स्पष्ट है कि इस परिवर्तन को समझने के लिए संस्कृत-पालि का उदाहरण सीधा-सीधा नहीं लागू किया जा सकता, और सामाजिक चेतना की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल आवश्यक है।

खड़ी बोली के उत्थान में ब्रजभाषा के प्रति किसी प्रकार का द्वेष, या एक प्रदेश की भाषा को छोड़ने का कोई आग्रह नहीं था। खड़ी बोली के अंगीकार में अगर ऐसा नकारात्मक कोई आग्रह था जिसे ब्रज-विरोधी कहा जा सके, तो वह भाषा के परित्याग का नहीं, उसकी सामन्ती परम्पराओं के परित्याग का आग्रह था। ब्रज के एक सजीव आंचलिक भाषा होते हुए भी रीतिवादी परम्परा ने उसके साहित्यिक रूप को एक ऐसे साँचे मे ढाल दिया था कि वह कृत्रिमता के बड़े बन्धन में बँध गया था और उसे अभिजात वर्गीय अथवा सामन्ती पूर्वग्रहों से मुक्त करना कठिन हो गया था।

सामन्ती परम्पराओं के प्रति उदासीनता खड़ी बोली के उत्थान का पहला (और नकारात्मक) कारण था। दूसरा—और इसका रचनात्मक महत्त्व स्पष्ट ही है—कारण था व्यापकता की खोज : राष्ट्रीयता की केन्द्रोन्मुख भावना के उदय और विकास के साथ-साथ एक व्यापक भाषा—या व्यापक भाषा की अनुपस्थिति में सबसे अधिक व्यापक घटक—की खोज स्वाभाविक थी। और यह व्यापक घटक खड़ी बोली ही हो सकती थी : ब्रज-भाषा का उपयोग अपने प्रदेश से बाहर केवल साहित्य-क्षेत्र तक सीमित था, जब कि खड़ी बोली अपने प्रदेश से बाहर लोक-व्यवहार में भी आती थी, भले ही अशुद्ध रूप में। यहाँ खड़ी बोली के अन्तर्गत हिन्दी-उर्दू के प्रश्न को उठाना अनावश्यक है। यहाँ तक कि उर्दू का कोई मताग्रही समर्थक खड़ी बोली को उर्दू का पर्याय भी कहना चाहे (जो कि आगे के विवेचन से भ्रान्त सिद्ध हो जायगा) तो उससे भी इस स्थल पर कोई परिवर्तन नहीं आता। और साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने पर भी स्थिति ज्यों की त्यों रहती है : यह मान भी लें कि हिन्दी हिन्दू की और उर्दू मुसलमान की भाषा थी (यह भी ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या है) तो भी स्पष्ट है कि खड़ी बोली को एक प्रकार की बहु-प्रदेशीय व्यापकता प्राप्त थी जो और किसी जन-भाषा की नहीं थीं। और फिर केन्द्रोन्मुख राष्ट्रीयता के सम्मुख 'हिन्दू' और 'मुस्लिम' को एक ही संज्ञा 'भारतीय' की परिधि में ले आने की आवश्यकता का अपना एक दबाव भी था जो पुनः खड़ी बोली के पक्ष में क्रियाशील होता है।

यह राष्ट्रीयता के उदय का, और उस भावना से उत्पन्न होने वाले नये उत्तरदायित्व के ज्ञान का ही परिणाम था कि साहित्य-रचना के लिए खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा और ऐसे लेखक भी खड़ी बोली में लिखने लगे जो कि व्रज-भाषा पर अच्छा अधिकार रखते थे—अर्थात् जिन्हें अभिव्यक्ति के लिए न केवल व्रज-भाषा को छोड़ कर दूसरा माध्यम खोजने की कोई आवश्यकता नहीं थी, बल्कि जिन्हें दूसरे माध्यम की अपरिपक्वता अखरती भी थी। खड़ी बोली के व्यवहार का राष्ट्रीयता की भावना से कितना निकट सम्बन्ध था इसको जाँचने की एक विधि यह भी है कि देखा जाय, उस काल के किन-किन लेखकों ने खड़ी बोली को अपनाया या कौन-कौन व्रज के आग्रह पर अड़े रहे, और किन में राष्ट्रीयता का स्वर कितना मुखर था, या कहाँ तक भाषा-परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव एक साथ हुआ। हमारा अनुमान है कि ऐसा अध्ययन दोनों के अभेद्य सम्बन्ध का प्रमाण देगा। इतना ही नहीं, इस दृष्टि से भी अध्ययन किया जा सकता है कि जिन्होंने व्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों का उपयोग किया, उन्होंने किस भाव—अथवा विचार—वस्तु के लिए किस भाषा को चुना; और यह भी राष्ट्रीयता और खड़ी बोली के सम्बन्ध को पुष्ट करेगा।

किन्तु भाषा-परिवर्तन के पूरे संक्रमण में व्रज-भाषा से खड़ी बोली तक की यात्रा केवल एक चरण थी। यात्रा वहीं जाकर समाप्त नहीं हो गयी। संक्रमण का दूसरा चरण खड़ी बोली के अन्तर्गत एक भाषा-रूप को छोड़ कर दूसरे भाषा-रूप का ग्रहण था। यह हो जाने पर ही राष्ट्रीयता की माँग का सम्पूर्ण उत्तर मिल सकता था और व्यापकता के दायित्व का समुचित निर्वाह हो सकता था। भारतेन्दु-काल में हिन्दी और उर्दू का जो संघर्ष चल रहा था, और जिसकी निष्पत्ति वास्तव में प्रेमचन्द में आकर हुई, वह व्यापकता के आन्दोलन का ही एक पहलू था। इस तर्क से ब्रज-भाषा से खड़ी बोली तक आना पर्याप्त नहीं है, यह क्रमशः स्पष्ट होने लगा जब लेखकों ने यह अनुभव किया कि जिस भाषा का उन्होंने वरण किया है, उसकी व्याप्ति का क्षेत्र पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित हुआ जा रहा है। अर्थात् ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली के एक परिष्कृत, परिमार्जित संस्कारी रूप उर्दू का ग्रहण एक दीक्षित भाषा के स्थान पर दूसरी दीक्षित भाषा की प्रतिष्ठा मात्र है और वास्तव में व्यापकता के लिए परिमार्जित भाषा का मोह छोड़ कर लोक-साधारण की भाषा को अपनाना होगा। यह इसी बोध का परिणाम था कि जिन लोगों का उर्दू पर अधिकार था उन्होंने भी क्रमशः मार्जन की दृष्टि से ही हिन्दी को अपनाया। स्वयं भारतेन्दु के खड़ी बोली काव्य के संस्कार उर्दू के अधिक थे : उनकी गज़लें, उनकी फ़ारसी शब्दावली, और उनका कविनाम

'रसा' इसके प्रमाण हैं। फिर भी वह हिन्दी के नवयुग के प्रवर्तक हुए इसका कारण उनकी लोकोन्मुखता ही थी। यह भाषा-क्रान्ति का दूसरा चरण था जिस का ध्येय था साधारण जन की भाषा का अंगीकार। संस्कृत-पालि के विकल्प की समानता यहाँ पर आकर यथातथ्य लागू होती है : ब्रज और खड़ी बोली के विकल्प से उसकी समानता नहीं थी पर उर्दू और हिन्दी का विकल्प उसकी ऐतिहासिक आवृत्ति थी—जहाँ तक कि इतिहास में आवृत्ति अर्थ रखती है।

शब्द-चयन की दृष्टि से भारतेन्दु-युग का लेखक शुद्धिवादी नहीं था : वह उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत, अन्य प्रादेशिक भारतीय भाषा, लोक-भाषा कहीं से भी कोई भी उपयोगी शब्द या प्रयोग ले लेने को तैयार था। किन्तु हिन्दी के वरण के बारे में उसके मन में कोई द्विधा न बची थी—वह इतर भाषाओं के शब्दों से हिन्दी का ही भंडार भरता था, इतर भाषाएँ नहीं लिखता था। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का संघर्ष बाद की बात थी : नयी भूमि पर अधिकार करने के लिए पहले चार-दीवारी बाँधी जाती हैं, पीछे झाड़-झंखाड़ साफ़ किये जाते हैं। यह प्रतिमानीकरण का कार्य द्विवेदी-युग की मुख्य प्रवृत्ति थी। इस काल में खड़ी बोली हिन्दी एक संस्कारी भाषा हो गयी, और तभी से उसे खड़ी बोली कहना भी अनावश्यक हो गया—हिन्दी संज्ञा उसी के लिए रूढ़ हो गयी। इस प्रतिमानीकरण के आन्दोलन में भूलें न हुई हों या दुराग्रह न प्रकट हुए हों ऐसा नहीं है, फिर भी उसने लेखक में भाषा के प्रति एक जागरूकता उत्पन्न की जिसका गहरा रचनात्मक प्रभाव पड़ा। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि परवर्ती साहित्यिक आन्दोलनों में भाषा के रूप के सम्बन्ध में ऐसी जागरूकता फिर नहीं देखी गयी। छायावादी काल की भाषा-सम्बन्धी चेतना का आधार था शब्द-कौतूहल अथवा ध्वनि-योजना का सार्थक उपयोग, और इधर के तदात्म्य प्रयोगवादी काव्य का मुख्य आग्रह प्रतीक-योजना का ही है—यद्यपि शब्द-कौतूहल भी उसमें है, जिसकी दिशा छायावाद के शब्द-कौतूहल से भिन्न है। यह ठीक है कि द्विवेदी युग में भाषा की—या भाषा के रचनाशील प्रयोक्ता कवि की—आवश्यकताएँ दूसरी थीं, फिर भी कभी यह लक्ष्य करके खेद होता है कि आज का लेखक भाषा के रूप-सौष्ठव और व्यापक प्रतिमानों के विषय में उतना सतर्क नहीं है जितना द्विवेदी-युग का लेखक था। उस काल का अतिवादी भाषा को इस जोखम में डालता था कि कहीं वह अपना लचकीलापन और ग्रहणशीलता खोकर काठ-सी कठैठी न हो जाय, आज का अतिवादी उसके सामने यह खतरा उपस्थित करता है कि कहीं वह अपनी सार्वभौमता खो कर एक दीक्षागम्य सांकेतिक भाषा न हो जाय। किन्तु भाषा की प्रवृत्तियों की पड़ताल में हम बहुत काल-व्यतिक्रम कर गये हैं।

यह कहा जा चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी को नयी लोक भूमि पर लाये और उसके साहित्य में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त बने। भारतेन्दु-युग के सभी कवियों ने ज़ोरों से अनुवाद भी किये—गतानुगतिक भाव से केवल संस्कृत से नहीं वरन् दूसरी भारतीय भाषाओं से भी (विशेषतया बांग्ला से) और भारतीयेतर भाषाओं से भी (मुख्यतया अँग्रेज़ी से या अँग्रेज़ी के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं से)। स्वायत्तीकरण के इस बहुमुखी आन्दोलन की जड़ में नवजाग्रत राष्ट्रीय भावना तो थी ही, एक नयी उदार दृष्टि भी थी। साहित्य-शरीर की इस अभिवृद्धि से लेखक का मानसिक आकाश और खुला और उसके क्षितिज दूर-दूर तक फैले; साहित्य के आस्वादन, परीक्षण और मूल्यांकन के लिए उसे नये साधन और प्रतिमान मिले, और इनका उसकी रचना पर गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु इस ग्रहणशीलता के साथ-साथ निरन्तर हिन्दी के कृतिकार में 'अपनेपन' की भावना पुष्ट होती गयी। 'प्रेम अपनों ही पर कर रे' (श्रीधर पाठक) निरी संकीर्णता का नारा नहीं था बल्कि नयी ऐतिहासिक प्रवृत्ति से अनुप्राणित सांस्कृतिक दृष्टि की एक उपलब्धि थी। आत्म-सम्मान के लिए पहले आत्म-साक्षात्कार आवश्यक है, किन्तु आत्म-साक्षात्कार तब तक कैसे हो सकता है जब तक हम में यह आस्था न हो कि हमारा एक विशिष्ट आत्मरूप है भी—कि 'अपने ही प्राणों के प्राण हैं' ? इस प्रकार जहाँ एक ओर एक नयी मानवमूर्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी और यह स्वीकार किया जा रहा था कि मानव रूप होने के नाते ही वह सुन्दर और सम्मान्य है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय की एक नयी मूर्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी और यह पहचाना जा रहा था कि वह मूर्ति मूलतः सुन्दर और सम्मान्य है, भले इस समय खंडित या हीनत्व-प्राप्त हो। 'प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है,....अब भी हमारी अस्ति है' (मैथिलीशरण गुप्त) नयी दृष्टि पर आधारित आत्म-प्रतिष्ठा का ही दूसरा पहलू था—यद्यपि कवि साथ ही यह स्वीकार करने को भी बाध्य था कि 'अवस्था शोच्य है'। बल्कि अपनी वर्त्तमान हीनावस्था को देखने और स्वीकार करने का साहस उसे इसी से मिलता था कि मूलतः उसका भाव आत्मावहेला अथवा अनास्था का नहीं रहा था।

यहाँ यह अवश्य लक्ष्य करना होगा कि इस नव-प्रतिष्ठित आत्मभाव के मूल में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ थीं और सब ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील नहीं थीं—अर्थात् कुछ ऐसी भी थीं जिनकी शक्ति संकीर्णता और असहिष्णुता की शक्ति थी। सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन बहुधा प्रत्यभिमुख रूढ़िवादी प्रवृत्तियों को इतनी ओट दे देता है कि परम्पराओं की रक्षा के नाम पर वह सामाजिक प्रगति को रोकने का उपक्रम करने लगें, और भारतीयता की पुनःप्रतिष्ठा के इस युग में इन्होंने

भी अपेक्षित तत्परता दिखायी। इस काल के सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों में जिस प्रकार एक ओर अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के उन्मूलन का और दूसरी ओर एक नयी कट्टरता और मतवादिता का (उसे मतान्धता न कहें तो) आग्रह लक्षित होता है, उसी प्रकार साहित्य में भी एक ओर पश्चिम की चुनौती के सम्मुख नव-निर्माण का उत्साही स्वर और दूसरी ओर निरी प्राचीन परम्परा या रूढ़ि की दुहाई सुनने को मिलती है। इस युग का बहुत सा 'नेकटाई-काव्य' तथा खान-पान सम्बन्धी काव्य इस दोहरी प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण हो सकता है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' की प्रार्थना 'द्विज वेद पढ़ें, सुविचार बढ़ें बल पाय चढ़ें सब ऊपर को' से उनका यह विश्वास ही ध्वनित होता है कि सनातन वैदिक परम्पराओं से हटना ही हमारे ह्रास का कारण हुआ और उनकी ओर लौटने से ही समाज सुधर जायेगा। 'शंकर' तो खैर ध्वजधारी कवि थे ही, महावीरप्रसाद द्विवेदी भी उस युग के प्रति मोह की दुर्बलता से मुक्त नहीं थे जिस में 'भैंसें वेद-पाठ किया करती थीं'। किन्तु दूसरी ओर श्रीधर पाठक जब व्यंग्यपूर्वक कहते हैं कि 'मनुजी, तुमने यह क्या किया ?' तब वह सनातन परिपाटी की दुहाई नहीं देते, और न उस परिपाटी को वेदों की भाँति अपौरुषेय अथवा पूर्वजों को त्रिकालदर्शी सर्वविद् मानते हैं, वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मानव ने ही मानव को रूढ़ियों में बाँधा है और वे बन्धन असहनीय हैं : 'और अधिक क्या कहें बापजी, कहते दुखता हिया; जटिल जाति का अटल पाँत का जाल है किसका सिया ? मनुजी, तुमने यह क्या किया !' ऐसे स्वरों को ध्यान में रखकर, अनेक दोषों के रहते हुए भी इस समूचे युग की स्वस्थ, उदार, भविष्योन्मुख लौकिक सांस्कृतिक दृष्टि को स्वीकार करना ही होगा।

* * *

आत्म-प्रतिष्ठापन के आरम्भिक युग में खड़ी बोली के काव्य में दो प्रधान धाराएँ रहीं इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। नैतिक-उपदेशात्मक काव्य का सम्बन्ध नयी सामाजिक दृष्टि से था; ऊपर के विवेचन के बाद इस पर जोर देने की आवश्यकता न होनी चाहिए : न इसी का अलग स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उपदेश-काव्य की एक प्रेरणा प्रत्यभिमुख दृष्टि से भी मिलती थी। इतिवृत्त-काव्य अधिकतर जातीय उत्कर्ष के ऐतिहासिक अथवा पौराणिक युगों से प्रेरणा लेता था : आत्म-प्रतिष्ठापन के लिए अतीत गौरव का स्मरण और उसके प्रमाण से भावी उत्कर्ष की सम्भावना करना स्वाभाविक ही था। यों इस अनुक्रम में किसी भी स्थल पर रुका जा सकता था : कामताप्रसाद गुरु ऐतिहासिक घटनाओं की आवृत्ति से आगे नहीं बढ़े, और अयोध्यासिंह उपाध्याय की दृष्टि पौराणिक काल में ही

रमी रही। भारतीयेतर प्रभाव दोनों कवियों में बहुत अल्प मिलेगा, अन्तरंग और बहिरंग दोनों की दृष्टि से इनकी प्रवृत्ति परम्परावादी रही फिर भी समकालीन राजनैतिक प्रभावों से वे बिल्कुल अछूते नहीं रह सके। 'हरिऔध' के 'भारत गीत' ('महती मह्रा पुनीता मधुरा मनोहरा है, वसुधा ललाम भूता भारत-वसुन्धरा है') में भारत के समकालीन संघर्ष का वैसा स्पन्दित प्रतिचित्र भले ही न हो जैसा 'सनेही' की 'कौमी ग़जल' ('मुनक्कश अपने दिल पर हिन्द की तस्वीर होने दो, कदम से उसके अपने सीने पर तनवीर होने दो') में है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उस संघर्ष की हवा उन्हें भी लगी। 'भारतेन्दु' की मुकरी की सी स्पष्ट दो-टूक बात ('रूप दिखावत सरबस लूटे, फन्दे में जो पड़े न छूटे, कपट कटारी जिय में हूलिस, क्यों सखि, साजन ? नहीं सखि, पूलिस !') उनसे कभी कहते न बनी, पर बहुत बचा कर बात कहते हुए भी इतना तो उन्हें भी कहना पड़ा कि 'क्या टलेंगे न पीसनेवाले, क्या सदा ही पिसा करेंगे हम ?'

इतिवृत्त-काव्य में भी संकीर्णता और प्रत्यभिमुखता के लिए यथेष्ट गुंजाइश थी। अतीत गौरव का स्मरण तीव्र साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह के साथ भी हो सकता था, जिसकी यत्किंचित् छूत इस काल के अनेक कवियों को थी और कामताप्रसाद गुरु में भी देखी जा सकती है अथवा उससे यह भाव भी जगाया जा सकता था कि भारतीय जाति (क्योंकि सम्पूर्ण मानव जाति !) क्रमशः और अनिवार्यतः पतन की ओर जा रही है—उस अनिवार्यता से बचने का कोई उपाय हो सकता है तो अतीत की ओर लौटना या अतीत युग को फिर ले आना ही। काल्पनिक इतिवृत्त भी काव्य में आता था, इसका एक कारण तो यह था ही कि राजनीतिक प्रतिबन्धों के कारण जहाँ सामयिक स्वदेशी प्रसंग नहीं उठाये जा सकते थे वहाँ ऐसे इतर देश-काल का सहारा लिया जाता था जिसके समयानुकूल भावनाओं को जगाया जा सके। उदाहरण के लिए रामनरेश त्रिपाठी के खंड काव्यों को इसी दृष्टि से देखा जा सकता है : 'मिलन' की घटना-भूमि उत्तर इटली में स्थापित की गयी है, और 'पथिक' की एक कल्पित देश-काल में, किन्तु दोनों की भाव-वस्तु समकालीन भारत और उसके राजनीतिक संघर्ष से सम्बन्ध रखती है और उसी के सन्दर्भ में दोनों काव्यों का पूरा रसास्वादन किया जा सकता है।

राय देवीप्रसाद और गोपालशरणसिंह का काव्य एक दूसरी दृष्टि से विशेष स्थान रखता है। ऊपर बताया गया कि काल या प्रवृत्तियों का दो टूक विभाजन नहीं हो सकता : पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ बहुत देर तक बनी रहती हैं और परवर्ती प्रवृत्तियों के लक्षण बहुत पहले प्रकट हो जाते हैं। एक ओर परम्परानुगतिक प्रवृत्ति को गोपालशरणसिंह बहुत बाद तक ले आये, और दूसरी ओर जो रोमांटिक

प्रभाव अनन्तर छायावाद में मुखर हुआ उसके पूर्व संकेत 'पूर्ण' के काव्य में मिलने लगे। 'बसन्त-वियोग' 'कल्पोद्यान-वर्णन' इसका उदाहरण है ही, अन्तिम 'था जहाँ बारामास ऋतु-राज-चारु-विलास, पहुँचा वहाँ भी रोग, भारी वसन्त-वियोग' को तो रोमांटिक भावना का पूरा प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। और दूर की कौड़ी लाना प्रस्तुत संकलन की परिधि से बाहर जाना होगा, पर व्यापक परिपार्श्व के इंगित के लिए इतना कह देना अनुचित न होगा कि इसी प्रकार और बाद की 'नयी कविता' की प्रवृत्तियों के अंकुर श्रीधर पाठक में पाये जा सकते हैं। यह कहना कदाचित् इस युग के कवि-समुदाय के साथ अन्याय न होगा कि श्रीधर पाठक इनके सर्वाधिक कवित्व-सम्पन्न कवि थे। भारतेन्दु को खड़ी बोली युग का प्रवर्तक मानकर भी कहा जा सकता है कि श्रीधर पाठक ही उसके वास्तविक आदि कवि थे। युग को प्रतिबिम्बित करते हुए भी उनका काव्य सबसे अधिक ऐसे तत्त्व हमें देता है जो युग के साथ ही बीत नहीं जाते—अर्थात् जो वास्तव में शुद्ध साहित्यक तत्त्व हैं।

*　　　*　　　*

द्विवेदी युग की परिस्थितियाँ और समस्याएँ आरम्भिक युग से भिन्न थीं। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का कार्य अभी पूरा न हुआ था, पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठापना के विषय में कोई द्विधा न रही थी। इसी प्रकार यद्यपि भारतीयता के स्वरूप की कोई सामान्य और सर्वसम्मत अवधारणा अभी नहीं हो सकी थी, तथापि उसकी अस्ति के बारे में कहीं कोई सन्देह नहीं रह गया था। राष्ट्र की रूप-कल्पना में कोई कठिनाई अब नहीं थी; एक व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन की नींव पड़ चुकी थी और सारा देश अँगड़ाइयाँ ले रहा था। अपनी तत्कालीन परिवृत्ति के दबाव से मुक्त होकर कवि फिर उन व्यापक और जटिल प्रभावों का ग्रहण, अन्वेषण-विश्लेषण और आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वायत्तीकरण कर सकता था जो नये ज्ञान-विज्ञान के कारण मानसिक अथवा बौद्धिक वायु-मण्डल में क्रियाशील थे। इस नयी स्थिति का परिणाम वे दो धाराएँ थीं जो खड़ी बोली काव्य के द्वितीय युग की विशेषताएँ हैं। नयी लौकिक दृष्टि ने मानव को जो नया गौरव दिया था, उसके विभिन्न अभिप्राय और आनुषंगिक परिणाम क्रमशः और स्पष्ट होते गये और उनसे नयी प्रवृत्तियों का उदय हुआ; पर यह वास्तव में तीसरे उत्थान की बात है।

समकालीन प्रभाव हम इतर कवियों में तो देख ही सकते हैं, मैथिलीशरण गुप्त जैसे मर्यादा-प्रेमी वैष्णव भक्त कवि की रचनाओं में भी लक्ष्य करते हैं। उनके राष्ट्रीयतावाद की ओर तो संकेत करना भी अनावश्यक होगा, लोकमत ने

सहज ही उन्हें राष्ट्रकवि का पद दिया है और पाँच दशकों पर छाया उनका काव्य-कृतित्व राष्ट्र-प्रीति का सन्देश सुना कर देश को प्रेरणा और उद्बोधन देता रहा है। किन्तु मानवतावाद की छाप भी उनके काव्य पर स्पष्ट है: 'भारत-भारती' और 'झंकार' से लेकर 'दिवोदास' और 'पृथिवी-पुत्र' तक उनके काव्य की प्रगति पद-पद पर उसे सूचित करती है। उनकी दृष्टि परलोक में नहीं इसी लोक में निबद्ध है; बार-बार नर के नरत्व का, पुरुष के पुरुषार्थ का जयघोष उन्होंने किया है। 'भारत-भारती' की राष्ट्रीयता तत्कालीन वैचारिक स्थिति के अनुरूप ही अधूरी है, और आज वह वैसी प्रेरणा नहीं दे सकती जैसी उसने उस समय दी, किन्तु निरन्तर विकासशील विचारावली और आदर्श के कारण ही गुप्त जी इस द्रुत संक्रमित परिस्थिति में भी न केवल युग के साथ चलते रह सके वरन् समकालीन समाज को निरन्तर उद्बुद्ध करते रह सके हैं। उनकी नवीनतम रचना 'राजा-प्रजा' तक उनका काव्य निरन्तर हिन्दी-भाषी भारत की आशा-आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करता रहा है: न केवल यही, उसे भारतीयता का काव्य कहा जा सकता है: क्योंकि उसमें उदारता भी है और मर्यादा-प्रेम भी, प्राचीन का गर्व भी है और नये का अभिनन्दन भी, विशाल ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित आस्था भी है और भविष्य के लिए एक संयत आशा भी। समकालीन चिन्तन को राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद में विरोध अनिवार्य दीखता है, और शुद्ध राष्ट्रीयतावाद की निष्पत्ति सर्वत्र जिस युयुत्सु संकीर्णता में होती रही है वहाँ इसका यथेष्ट प्रमाण है; परन्तु मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में ऐसा कोई विरोध लक्षित नहीं होता—एक तो इसलिए कि स्वातन्त्र्य-लाभ तक इन दोनों में विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं था, और जब तक राष्ट्रीयता शोषण से मुक्ति का आन्दोलन है तब तक वह मानवतावादी है ही, दूसरे इसलिए भी कि गुप्त जी का मानवतावाद निरन्तर उनके विश्वासों को संयत या विकसित करता रहा है। कुछ लोगों का कहना है कि इसी कारण उनका 'साकेत' उस पद को नहीं पा सका जो 'राम-चरित-मानस' का है; वह जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी लोकोन्मुखता ही उनके काव्य को समाज के सब स्तरों में समान रूप से ग्राह्य बना सकी है। वाद-पीड़ित इस परवर्ती युग में प्रत्येक कवि विवाद का विषय बना है, पर गुप्त जी उससे मुक्त रह सके हैं।

भाषा के परिमार्जन और संस्कार में गुप्त जी की देन का उल्लेख करना आवश्यक है। इसका श्रेय महावीरप्रसाद द्विवेदी को दिया जाता है, और निस्सन्देह उनकी कर्मठता, दृढ़ता और विवाद-सन्नद्धता के बिना यह कार्य न हो सकता, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उनकी भाषा सम्बन्धी अवधारणाओं को

मैथिलीशरण गुप्त जैसा कुशल और परितोषदायी उदाहर्त्ता न मिलता तो ये संस्कार इतनी सुगमता से इतने गहरे न पैठ जाते। भाषा के प्रतिमान निर्धारित करने-वाला चाहे कोई हो, एक अकेला कृतिकार भाषा के रचनाशील व्यवहार से उसे जो व्याप्ति और सार्वदेशिक मान्यता दिला सकता है वह बीसियों शास्त्रविद् निदन्ताओं के सामर्थ्य से परे होता है। मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव कितना गहरा पड़ा, इसका इससे अच्छा और क्या उदाहरण होगा कि उन्होंने जो चलाया वह तो चला ही, जो निषेध किया वह छूटा ही, पर जो उन्होंने निषेध नहीं किया, केवल स्वयं नहीं बरता, उसको बरतना केवल इतने ही से कठिन हो गया कि उन्होंने उसे नहीं अपनाया। हिन्दी छन्द में लघु-गुरु सम्बन्धी रियायतें जो द्विवेदीकाल तक प्रचलित थीं और जो उर्दू में आज भी सजीव बनी हुई हैं, केवल गुप्त जी के द्वारा प्रयुक्त न होने के कारण अप्रचलित हो गयीं और आज बरती जाती हैं तो 'उर्दू की' मानी जाती हैं। नयी प्रवृत्ति उन्हें हिन्दी का परम्परागत अधिकार घोषित करके पुनः अपनाने के लिए सचेष्ट है, वह दूसरी बात है।

सियारामशरण गुप्त साधारणतया उसी धारा में आते हैं जिसका प्रतीक पुरुष उनके अग्रज को माना जाता है। उनकी सांस्कृतिक चेतना ने असहयोग के आन्दोलन से विशेष प्रेरणा पायी। दार्शनिक आधारों को ध्यान में रखते हुए मानना होगा कि यह आन्दोलन एक सांस्कृतिक आन्दोलन था। सियारामशरण गुप्त भारतीय सांस्कृतिक चेतना के नैतिक आधारों में बहुत गहरे पैठते हैं; अग्रज की भाँति मर्यादा में नहीं, जिस भित्ति पर मर्यादा खड़ी होती है उसी में उनकी रुचि है। सूक्ष्म नैतिक विवेचन में वह अद्वितीय हैं, आचार की मान्यताओं की जाँच में वह उनके आधारभूत नैतिक मूल्यों को पकड़ते हैं। अग्रज की भाँति वह कथा-काव्य लिखते हैं लेकिन उसकी वस्तु पौराणिक या ऐतिहासिक नहीं होती, वह समकालीन साधारण जीवन से ली जाती है। समकालीन साधारण जीवन का वृत्तान्त 'सनेही' ने भी लिखा है; 'सनेही' का आग्रह वस्तु पक्ष पर, आर्थिक वैषम्य, निर्धनता, उत्पीड़न, क्लेश पर है, सियारामशरण गुप्त का आग्रह वस्तुस्थिति के मूल में वर्तमान नैतिक समस्या पर होता है। मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि ही मानवता-वादी है, सियारामशरण जी अपनी वर्ण्य वस्तु से मानवीय सम्बन्ध भी स्थापित करना चाहते हैं। मैथिलीशरण जी ने इतिहास की उपेक्षिताओं की ओर ध्यान खींचा है, सियारामशरण जी समाज के—आज के समाज के—दलितों को सहानु-भूति देते हैं। यहाँ फिर इस सहानुभूति और 'सनेही' अथवा और पहले 'शंकर' के करुणा-भाव में भेद करने की जरूरत है : उनकी करुणा का आधार व्यक्ति का कष्ट है, किन्तु सियारामशरण जी की व्यथा का कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व

का असम्मान है। उनका आग्रह व्यक्ति के सुख-सुविधा का नहीं, व्यक्ति की प्रतिष्ठा का है। वह काव्य को लोक के और निकट लाने के आग्रही हैं क्योंकि वह लोक-साधारण से एकात्म्य के समर्थक हैं। मैथिलीशरण जी मातृभूमि के और पारिवारिक जीवन के कवि हैं, सियारामशरण जी मानव-सम्बन्धों के और सामाजिक जीवन के, मैथिलीशरण जी की दृष्टि ऐतिहासिक-सांस्कृतिक है, सियारामशरण जी की सामाजिक-नैतिक; मैथिलीशरण जी निष्ठा के कवि हैं, सियारामशरण जी समवेदना के।

माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा भी मुख्यतया राष्ट्रीयता के कवि हैं, यद्यपि उनमें वे प्रवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं जिनकी हम अभी छायावाद के प्रसंग में चर्चा करेंगे; छायावाद के प्रारम्भिक काल की भाषा सम्बन्धी स्वच्छन्दता भी उनमें पायी जाती है। दोनों में न केवल संस्कारी भाषा का आग्रह नहीं है वरन् उसके प्रतिकूल कभी बहुत अटपटी और कभी बहुत मुहावरेदार, कभी ठेठ और कभी गरिष्ठ, कभी सीधी-साधी और कभी दुरूह भाषा वे लिखते हैं। सिद्धान्ततः 'नवीन' संस्कृतनिष्ठ हिन्दी और अरबी-फ़ारसी से व्युत्पन्न शब्दों के बहिष्कार के समर्थक हैं अर्थात् शुद्धिवादी हैं; व्यवहार में उनका स्वच्छन्द और अराजक स्वभाव ऐसे कोई मर्यादा नहीं निभा पाता। किन्तु यह अराजकता दोनों कवियों के काव्य के आस्वादन में बाधा नहीं देती, क्योंकि कुछ ऐसी ही अव्यवस्था उस वर्ग में भी पायी जाती रही जो उस काव्य का पाठक था—साधारणतया राष्ट्रीयतावादी किन्तु इससे आगे अस्पष्ट और दिशाहीन असन्तोष और अशान्ति से भरा हुआ वर्ग, जो अधकचरी अँग्रेज़ी शिक्षा के कारण अपनी बोली से भी कट गया था और किसी अन्य भाषा से अन्तरंग सम्पर्क भी न स्थापित कर सका था। अब, जब एक ओर हिन्दी एक पुष्ट और परिमार्जित रूप पा चुकी है, और दूसरी ओर छायावाद के द्वारा लाये गये या सीधे अँग्रेज़ी से आये हुए प्रयोग भी किसी हद तक रूढ़ होकर अपना स्थान बना चुके हैं, माखनलाल चतुर्वेदी अथवा 'नवीन' की भाषा की असमगति और उभर कर दीखती है, लेकिन हिन्दी पाठक (और समकालीन कवि) की चेतना पर उनके काव्य ने प्रभाव डाला यह असन्दिग्ध है। उसमें एक ओज और प्रवाहमयता है जो अभी तक अनुकरण को ललकारती है। परवर्ती काव्य आन्दोलनों में ठेठ बोली और देहाती मुहावरे के बारे में जो कौतूहल और प्रयोग-तत्परता लक्षित होती है, उसे इन बुज़ुर्गों के उदाहरण से प्रेरणा न मिली हो यह असम्भव है।

* * *

यहाँ तक हम ऐसी काव्य कृतियों की बात करते आये हैं जिन्हें साधारणतया

विषय-प्रधान कहा जा सकता है। यद्यपि विषय की प्रधानता सबमें एक-सी रही, और कभी-कभी विषयी की चिन्तना या अनुभूति विशेष रूप से मुखर हो उठती है, तथापि इन कवियों को उनसे, जिन्हें छायावादी
बात पृथक् करती है वह यही है : विषयि-प्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राण शक्ति है।

ऊपर हमने मूल्यों और प्रतिमानों के ह्रास और उनके स्थान पर नये मूल्यों और प्रतिमानों की स्थापना का उल्लेख किया है। विदेशी शिक्षा तो आयास-पूर्वक पुराने मूल्यों को उच्छिन्न कर ही रही थी; पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव भी इसी दिशा में पड़ रहा था। ईश्वर-परक नैतिकता का स्थान मानव-परक नैतिकता ले रही थी; नयी नैतिकता की स्थापना धीरे-धीरे हो रही थी अतः एक स्वच्छन्दतावादी या कि नास्तिवादी अन्तराल बढ़ता जा रहा था। महा-युद्धोत्तर अव्यवस्था और नैराश्य ने इस अन्तराल को और बढ़ा दिया। फलतः संवेदनाशील कृतिकार में गहरा अन्तर्द्वन्द्व प्रकट हुआ। यह अन्तर्द्वन्द्व उसे साधारण जन से दूर भी ले गया; और इस दूरी के बोध ने अन्तर्द्वन्द्व को नयी तीव्रता भी दी। इसने नये कवि में एक अभूतपूर्व मनोवैज्ञानिक व्याकुलता उत्पन्न की। छाया-वादी काव्य मुख्यतया इस व्याकुलता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्नों का परिणाम था। 'छायावाद' नाम सर्वथा अपर्याप्त है, किन्तु साहित्यिक वादों के नाम प्रायः ही अपर्याप्त और अनुपयुक्त होते हैं और प्रचलन ही उन्हें अर्थ देता है। 'छायावाद' नाम भी पहले अवहेलना-सूचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ था।

छायावादी कवि की यह व्याकुलता नाना रूपों में प्रकट हुई। किन्तु उनमें सामान्य बात यह थी कि विषयी की प्रधानता थी; सभी रूपों की मूल प्रेरणा वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति थी। वह वैयक्तिकता चाहे कल्पना की हो, चाहे चिन्तना की, चाहे अनुभूति की और चाहे स्वयं आध्यात्मिक व्याकुलता की ही। इस वैयक्तिकता के कारण ही छायावाद का काव्य मूलतः प्रगीत मुक्तक हुआ। निस्सन्देह वैयक्तिकता के उत्थान में मानसिक और आध्यात्मिक व्याकुलता के अतिरिक्त सीधे विदेशी प्रभाव भी कारण हुए : अंग्रेजी रोमांटिक काव्य से परि-चय होना भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि विदेशी परम्परा से परिचय और अपनी परम्परा का अज्ञान (जो दोनों ही विदेशी शिक्षा के फल थे) बहुत हद तक इस नयी प्रवृत्ति के, और इसलिए उस प्रवृत्ति के उपहास के भी, कारण बने। किन्तु आज जब छायावादी कविता हिन्दी परम्परा की एक प्रतिष्ठित कड़ी है और हमारी काव्य-सम्पदा की एक बहुमूल्य वस्तु, तब हम उपहास वृत्ति छोड़ कर यह भी पहचान सकते हैं कि इन

'विदेशी' प्रभावों में वास्तव में अपने ही स्वरों की प्रतिध्वनियाँ भी थीं, केवल दूरी और विभिन्न माध्यमों के प्रभाव ने उनका रूप इतना बदल दिया था कि उन्हें पहचानना कठिन हो जाय।

अँग्रेज़ी रोमांटिक काव्य ने इटली और यूनान से, या फ्रांस और जर्मनी से छन कर आये हुए इन देशों के प्रभावों से, प्रेरणा ग्रहण की, पर स्वयं इन देशों में, बल्कि सारे पूर्वी यूरोप और भूमध्य-सागर तट प्रदेश के साहित्य में पश्चिम एशिया के प्रभाव क्रियाशील थे, और उनमें पूर्व की देन काफ़ी थी। रोमांटिक आन्दोलन का नया बहुदेवतावाद प्राचीन यूनानी साहित्य का प्रभाव-मात्र नहीं था, यह तो इसी से स्पष्ट होना चाहिए कि यूनानी 'क्लासिकल' साहित्य सदैव यूरोपीय साहित्य की पृष्ठिका में रहा और 'क्लासिकल' के प्रति विद्रोही ही तो 'रोमांटिक' हुआ। प्रश्न साहित्य से परिचय का नहीं था, साहित्य के प्रति नयी दृष्टि का था। जर्मनी में ग्यएटे ने शकुन्तला को सम्बोधन करके कविता लिखी, अथवा रूमानिया में एमेनेस्कू ने 'कामदेव' पर काव्य लिखा, इसका इटली या यूनान से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह बात चौंकानेवाली हो सकती है पर निराधार नहीं कि यदि छायावादी आन्दोलन की एक प्रेरणा हिन्दी कवि द्वारा शैली का आविष्कार था, तो यूरोप के रोमांटिक आन्दोलन की एक प्रेरणा यूरोपीय कवि द्वारा कालिदास का आविष्कार था। निस्सन्देह केवल एक प्रेरणा के आधार पर कोई व्यापक स्थापना करना भूल होगी, पर यह बात दोनों दिशाओं के प्रभाव के बारे में कही जा सकती है। वैसे हिन्दी पर रोमांटिक काव्य के प्रभाव में दूरागत भारतीय प्रतिध्वनि थी, इसे यों भी सिद्ध किया जा सकता है कि उस काव्य के द्वारा प्रभावित हिन्दी कवि फिर कालिदास की ओर लौटे—उन्होंने एक नयी दृष्टि से कालिदास को देखा और अपनाया, या कहें कि कालिदास का पुनराविष्कार किया। यह उल्लेख्य है कि कालिदास के हिन्दी अनुवाद महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति जिन कवियों ने किये उन्होंने कालिदास के बारे में नयी दृष्टि नहीं पायी; उनके लिए प्रबन्ध-काव्य प्रबन्ध-काव्य भर रहा जिसमें वृत्तान्त मुख्य था और वर्णन काव्य-लक्षणों की दृष्टि से अनिवार्य, बस। किन्तु छायावादी कवि ने कहानी मानों पढ़ी ही नहीं, कालिदास नामक ऐन्द्रजालिक द्वारा सशरीर आँखों के सामने ला खड़ी की गयी प्रकृति की अनिवर्चनीय मूर्त्ति को वह अपलक देखता रह गया। यहाँ भी नये परिचय का प्रश्न नहीं था, नयी दृष्टि का ही प्रश्न था। इसीलिए कालिदास के 'पुनराविष्कार' की बात कही गयी; इसी प्रकार नया युग नयी दृष्टि देकर नयी अर्थवत्ता की प्रतिपत्ति करता है।

वास्तव में अँग्रेज़ी में, या साधारणतया यूरोप में, रोमांटिक भावना के

अभ्युदय के अनेक कारण थे। किन्तु यहाँ यूरोपीय साहित्य के इतिहास का ब्योरा आवश्यक नहीं है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि यद्यपि रोमांटिक आन्दोलन पर विज्ञान द्वारा बुद्धि के उन्मोचन का प्रभाव पड़ा, तथापि उस आन्दोलन की नयी दृष्टि का रहस्य बुद्धि के उन्मोचन में नहीं, भावना और कल्पना के उन्मोचन में, एक नयी संवेदना में था। इसके अतिरिक्त उसे उस नैतिक उन्मोचन से भी यथेष्ट सुविधा मिली जो धर्म अथवा ईश्वर-परक नैतिकता के स्थान में प्रकृति-परक नैतिकता के अंगीकार का स्वाभाविक परिणाम था। रोमांटिक आन्दोलन की परिधि के भीतर भी, ज्यों-ज्यों प्रकृति-सम्बन्धी धारणा बदलती गयी त्यों-त्यों प्रकृत नैतिकता की अवधारणा भी बदलती गयी और परिणामतः नैतिक उन्मोचन ने एक अभूतपूर्व स्वच्छन्दतावाद का रूप लिया। प्रकृति एक भव्य कल्याणमयी शक्ति है; प्रकृति नीति-अनीति से परे का एक सहज आकर्षक बन्धन है; प्रकृति मूलतः पापात्म है किन्तु उसके मोहमय रूप के आकर्षण से कोई बच नहीं सकता; पाप ही जब प्रकृत है तब स्वेच्छापूर्वक उसका वरण ही प्रकृति-धर्म के अनुकूल आचरण है—इस परात्पर-क्रम में रोमांटिक आन्दोलन के उत्कर्ष और अधःपतन के पूरे इतिहास का निचोड़ है।

नैतिक उन्मोचन के नये और स्फूर्तिप्रद वातावरण में कलाकार की कल्पना स्वच्छन्द विचरण करने लगी। इस स्वच्छन्दता के नये प्रतीकों की खोज में कवि उन बहुदेवतावादी परम्पराओं की ओर मुड़ा जिन्हें ईसाइयत ने दबा दिया था। इनमें एक ओर यूनानी देव-माला थी, जिससे 'क्लासिकल' साहित्य के कारण समूचे यूरोप का शिक्षित वर्ग परिचित था। इसके देवता अधिकतर प्राकृतिक शक्तियों के देव-प्रतिम रूप थे और इसलिए उस वातावरण में सहज ही ग्राह्य हो सकते थे जिसमें प्रकृति को एक नये प्रकाश में देखा जा रहा था। दूसरी ओर ईसा-पूर्व स्थानीय परम्पराओं के देवता अथवा देवाकार पूर्व-पुरुष थे—उदाहरण-तया ट्यूटन अथवा नोर्स परम्परा के युद्ध और शान्ति के, प्रेम और ईर्ष्या के देवता। ये भी प्राकृतिक शक्तियों के देवता थे क्योंकि ये मानव की सहज प्रवृत्तियों के अतिमानवी रूप थे : धर्म-मूलक नैतिकता के स्थान पर प्रकृत नैतिकता की प्रतिष्ठा की क्रिया में ये भी अनुकूल और उपयोगी प्रतीक देते थे। तीसरी ओर परम्पराओं का वह समूह था जिसे यूरोप की दृष्टि से 'पूर्वीय' कहा जा सकता है; इनमें 'निकट-पूर्व' अथवा पश्चिम एशिया और भूमध्यसागर के दक्षिण पूर्वीय तट से आनेवाले प्रभाव भी थे और भारत अथवा चीन तक से आनेवाले प्रभाव भी। निकट-पूर्वीय प्रभावों में इस्लाम-धर्म बहुदेवतावादी नहीं था; परन्तु उसके प्रदेश में ऐसे अन्धविश्वासों की कमी नहीं थी जो स्वच्छन्दता-

वादी कल्पना को खुला क्षेत्र दे सकें। (इस अन्तर्विरोध को समझने के लिए हम स्मरण करें कि भारत में ही जब आक्रान्ता होकर इस्लाम तलवार के ज़ोर पर अपने विशिष्ट एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहा था, तब उसी के प्रचारकों का सांस्कृतिक प्रभाव हमारे आख्यान और लोक-कथा-साहित्य को जिन्न-भूत और परी-फरिश्तों की चित्र-विचित्र वाहिनी से भर रहा था।) धर्म-युद्धों के काल में, और वैजयन्ती साम्राज्य के कारण पश्चिम एशियाई प्रभाव विशेषतया दक्षिण यूरोप में पहले से सक्रिय थे। भारत-चीन के प्रभाव कुछ तो यूनान से प्राचीन परिचय के कारण बीज-रूप में रहे ही होंगे; कुछ पश्चिम एशिया से छन कर (और रूपान्तरित अथवा विकृत होकर) ही यूरोप में पहुँचे, पर जहाँ उनकी दूरी उनके आकार अस्पष्ट करती थी वहाँ कल्पना को मनमाने आकार गढ़ने की सुविधा भी देती थी।

इंग्लैंड में रोमांटिकवाद का झुकाव पहले और प्रधानतया यूनानी-इटालीय परम्परा की ओर हुआ, किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका, ये देश स्वयं पूर्व से प्रभावित हो रहे थे। परवर्ती अँग्रेज़ी कवियों पर फ़ांसीसी रोमांटिकवाद की छाप गहरी थी और उसमें पश्चिम एशिया (और उत्तर अफ़्रीका) के प्रभाव गहरे थे। जर्मन रोमांटिक काव्य में ट्यूटन परम्पराओं का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है, उसके अतिरिक्त पूर्व के प्रभाव भी पर्याप्त थे। कोलरिज के काव्य में भारत और चीन की ओर संकेतों की भरमार है; कीट्स पर यूनानी (हेलेनिक) प्रभाव मुख्य है; शैली पर इस्लाम का प्रभाव उल्लेख्य है (भले ही इस्लाम की उसकी अव-धारणा बिल्कुल अनैतिहासिक हो,) और इसका भी प्रमाण है कि उपनिषदों के अनुवाद उसने पढ़े थे; बायरन में विभिन्न प्रभाव लक्ष्य हैं और फ़ांसीसी आन्दोलन से उसका निकट सम्बन्ध है; स्विनबर्न और रोज़ेटी भी अनेक प्रभावों को प्रतिबिम्बित करते हैं। ग्यएटे और शिलर की पूर्वाभिमुखता असन्दिग्ध है। इन सभी के साहित्य से भारत का शिक्षित वर्ग परिचित था। फ़ांसीसी रोमांटिक कवियों का और उत्तरकालीन यूरोपीय रोमांटिकों अथवा सम्बद्ध सम्प्रदायों का अध्ययन रोमांटिक काव्य-परम्पराओं के परस्पर प्रभावों के बारे में हमारी स्थापना और पुष्ट करता है, किन्तु यहाँ उसका ब्योरा आवश्यक नहीं है क्योंकि हिन्दी का छायावादी कवि उनसे विशेष परिचित नहीं था और उसके उनसे प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, हिन्दी की अत्याधुनिक प्रवृत्ति के अध्ययन में वेलेरी और बर्लेन, बोदेलेयर की कृतियाँ अवश्य अपना महत्त्व रखेंगी।

* * *

भारतीय और यूरोपीय साहित्यों के परस्पर आदान-प्रदान के परिपार्श्व में,

उन्नीसवीं सदी के अँग्रेजी साहित्य ने किस प्रकार हिन्दी में छायावाद के आविर्भाव में योग दिया, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय पाठक का परिचय केवल समकालीन पश्चिमी साहित्य से नहीं वरन् एक साथ ही उसकी पूरी परम्परा से कराया था, इसलिए विभिन्न प्रभावों का संकुल उपस्थित होना स्वाभाविक था, पर साहित्यों या संस्कृतियों के प्रभाव में यह बात भी महत्त्व रखती है कि परिस्थिति कहाँ तक किस प्रभाव के ग्रहण के अनुकूल है : ऐसा हो सकता है कि कोई बीज युगों के बाद सहसा अंकुरित हो उठे—जैसा कि कालिदास के विषय में ऊपर देखा जा चुका है।

तो छायावाद मुख्यतया पश्चिम से प्रभावित नयी व्यक्ति-परक दृष्टि का परिणाम था : किन्तु वह केवल विदेशी परम्परा में एक स्वदेशी कड़ी जोड़ने का प्रयत्न नहीं था; नये छायावादी कवि के पास अपना नया वक्तव्य अवश्य था और उसे कहने की तीव्र उत्कंठा भी। जिन कवियों में निष्ठा थी वे उपहास और अवमानना से संकल्प-च्युत न होकर नये सामंजस्य के शोध में लगे रहे और क्रमशः जो अटपटा और अपरिचित जान पड़ता था उसे आत्मीय और प्रीतिकर बनाने में, सफल हुए।

छायावादी के सम्मुख पहला प्रश्न अपने कथ्य के अनुकूल भाषा का—नयी संवेदना के नये मुहावरे का—प्रश्न था। इस समस्या का उसने धैर्य और साहस के साथ सामना किया। उपहास और अवमानना से च्युत-संकल्प न होकर उसने अपनी बात कही, और जो कुछ कहा उसके सुचिन्तित कारण भी दिए। क्रमशः उसकी साधना सफल हुई और जो एक दिन उपहासास्पद समझे जाते थे आज हिन्दी के गौरव माने जाते हैं। छायावादी कवियों ने भाव, भाषा, छन्द और मण्डन-शिल्प सभी को नया संस्कार दिया; छन्द, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि को गतानुगतिकता से उबारा; नयी प्रतीक-योजना की स्थापना की। इस प्रकार काव्य की वस्तु और रूपाकार दोनों में गहरा परिवर्तन प्रस्तुत हुआ।

छायावाद के चार प्रमुख कवि हैं—जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा। वैयक्तिकता के काव्य में यह अस्वाभाविक नहीं कि चारों एक वर्ग के होकर भी परस्पर इतने भिन्न हों।

स्व० जयशंकर 'प्रसाद' के काव्य में वह उन्मुक्त स्वच्छन्द भाव नहीं है जो अन्य छायावादी कवियों में पाया जाता है, यद्यपि संसार की रूप-माधुरी को आकण्ठ पान करने की लालसा उनकी कविता में स्पष्ट है। इसका एक कारण तो अतीत के प्रति, और विशेष रूप से बौद्ध उत्कर्ष-काल के प्रति, उनका आकर्षण है। जहाँ इस आकर्षण के कारण वह उस काल के मोहक और मादकता

भरे चित्र प्रस्तुत करते हैं, वहाँ उससे एकात्म होकर वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रति एक संकोच और संयम का भाव भी पाते हैं। उनकी आरम्भिक रचनाओं में तो इस संकोच का बन्धन इतना कड़ा है कि बहुधा जान पड़ता है वह जो कहना चाहते हैं कह नहीं पाये हैं; मण्डन और सज्जा का एक भारी आवरण उनके भावों पर है जो स्वयं तो लुभावना हो सकता है पर प्रकाशन में सहायक नहीं होता। इस संकोच या झिझक का दूसरा कारण भाषा की अपर्याप्तता भी है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। फिर सामाजिक परिस्थिति के साथ असामंजस्य भी एक कारण रहा : एक ओर वह देश-काल की सीमाओं से परे किसी कल्प-लोक में विचरण करने की आकांक्षा जगाता था तो दूसरी ओर प्रकृत आकांक्षाओं की सहज अनुभूति को संकुचित करता था। इन दोनों प्रवृत्तियों की चरम परिणति क्रमशः पलायनवाद और निराशावाद में होती है। सौन्दर्य उपभोग्य है, इस विषय में 'प्रसाद' कभी द्विधा में नहीं थे, न रूपाकर्षण को लेकर कोई गाँठ उनके मन में पड़ी; वह निरन्तर 'पार्थिव सौन्दर्य को स्वर्गीय महिमा से मंडित' करके देखते रहे। अतः वह पलायनवादी या निराशावादी न हुए; पर असामंजस्य के अनुभव ने उन्हें भी अपने भावों को आध्यात्मिकता के आवरण में व्यक्त करने को प्रेरित किया। भावनाओं को मूर्त्त रूप देकर स्वतन्त्र कर्त्ता के रूप में उनका वर्णन करना इसी प्रवृत्ति का एक रूप है, और यह समान रूप से छायावादी कवियों में लक्षित होती है। 'प्रसाद' जी इससे आगे भी बढ़े; आरम्भ में जो केवल एक आवरण था, गम्भीर चिन्तन और मनन के कारण एक तत्त्वदर्शन बन गया : निजी अनुभूति से ऊपर उठकर उन्होंने एक परम प्रेममय, परम आनन्दमय का आभास पाया और उनका काव्य उसी के प्रति निवेदित हुआ। इसी कारण उनका काव्य अतृप्ति का काव्य नहीं हुआ, जैसा कि कम समर्थ कवियों का हो गया जिनके कारण छायावाद के ग्राह्य होने में और भी देर लगी।

छायावाद का स्वच्छन्दतावादी पक्ष अपने पुष्ट और सबल रूप में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के काव्य में व्यक्त होता है। अपने समूचे कृति-काल में वह अपना कविनाम सार्थक करते हुए एक अविराम विद्रोह-भावना के कवि रहे हैं : किसी भी क्षेत्र में गतानुगतिकता उन्हें अवमान्य हुई है और एक प्रखर व्यक्तित्व की ओज-भरी और दुर्दान्त अभिव्यक्ति से उन्होंने पाठक और आलोचक को अभिभूत कर दिया है। किन्तु व्यक्तित्व की निर्बाध अभिव्यक्ति के इस कवि में व्यक्ति-वैचित्र्य की चेतना बहुत कम है; सहज भाव से ही उस तेजस्वी व्यक्तित्व की विशिष्टता और शक्ति प्रतिभासित हो गयी है। अनुभूति

की तीव्रता के कारण उनके आवेग प्राय: निरंकुशता की सीमा पर रहते हैं; और 'छन्द के बन्ध' के प्रति कवि की घोर अनास्था इस खतरे को और भी बढ़ा देती है। किन्तु वास्तव में कवि का मुक्ति का आग्रह बाह्य प्रसाधन के प्रति विद्रोह है, आन्तरिक संयम की अवज्ञा नहीं; उनके मुक्त छन्द में भी एक झंकार और ताल विद्यमान है। और क्रमशः उनकी रचनाओं में एक और गहरा संयम भी लक्षित होता है—उनके कथा-काव्य में : घटनाओं की पूर्वापर संगति अनिवार्यत: अंकुश का काम करती है और इस प्रकार सधी हुई शक्ति का जो आभास उनके कथा-काव्य में मिलता है वह अतुलनीय है। 'राम की शक्तिपूजा' जैसी दो रचनाएँ हिन्दी में नहीं हैं। निष्कम्प सन्तुलन के साथ आवेगों की ऐसी तीव्रता और भाषा का तदनुकूल प्रवाह दुर्लभ है। स्फुट गीत सर्वत्र ऐसे विमुग्धकारी नहीं हैं; और उनमें दुरूहता और दुर्बोध्यता भी है और कहीं-कहीं असम्बद्धता या विसंगति भी (जिससे अपेक्षया लम्बी काव्य-कथाएँ भी मुक्त नहीं हैं), किन्तु उनमें भी जो सफल प्रगीत हैं वे मानों खड़ी बोली के पाठक के लिए एक नया अनुभव हैं। बांग्ला साहित्य के गहरे अध्ययन का भी उनकी रचनाओं पर प्रभाव रहा : बांग्ला के स्वच्छन्दतावादी और रहस्यवादी काव्य ने उनको भावा और विचार-संयोजन को एक विशिष्ट दिशा देने में योग दिया। परवर्ती कविता में लोक-भाषा की ओर आने का नया प्रयास है; और पुष्टतर सामाजिक चेतना उन्हें तीखे व्यंग्य और कटाक्ष की ओर भी प्रेरित करती है।

छायावाद की शक्ति का प्रतिरूप जहाँ 'निराला' उपस्थित करते हैं, वहाँ उसकी सूक्ष्म संवेदना श्री सुमित्रानन्दन पन्त में लक्षित होती है। पाश्चात्य रोमांटिक-वाद ने किस तरह इस काल की हिन्दी कविता को प्रभावित किया, इसे समझने के लिए भी पन्त जी का काव्य ही अध्येय है। रोमांटिकवाद को 'द रनेसेंस आफ़ वंडर', आश्चर्य-कौतूहल का पुनरुज्जीवन कहा गया है। पन्त जी के प्रथम काव्य-संग्रह का इससे अच्छा वर्णन नहीं हो सकता; मानव और प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति एक ऋजु कौतूहल इसका मूल स्वर है। सौन्दर्य के प्रति 'निराला' में एक पौरुष-दृप्त जयी का भाव है, 'प्रसाद' में पारखी उपभोक्ता का; पन्त में उसकी अन्तर्निहित शोभा के प्रति एक मुग्ध अकृत्रिम विस्मय का भाव है। आरम्भिक अंग्रेजी रोमांटिक कवियों के साथ तुलना को और आगे बढ़ाना हो तो 'पल्लव' की भूमिका को वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका के साथ तुलना की जा सकती है : छायावाद की दृष्टि को स्पष्ट और उसके आन्दोलन को ग्राह्य बनाने में इस भूमिका ने वही काम किया जो रोमांटिक दृष्टि और आन्दोलन के लिए कोलरिज-वर्ड्सवर्थ ने किया था। पन्त जी ने इस भूमिका में शब्दों की प्रकृति

और उनकी अर्थबोधन-क्षमता, छन्द, तुक और ताल का नयी दृष्टि से विवेचन किया, और उसके द्वारा समवर्ती काव्य-रसिक को नयी दृष्टि दी।

पन्त जी मूलतः गीतिकाव्य के कवि हैं। यह गीतिकाव्यात्मकता वर्ड्सवर्थ और शेली से प्रभावित हुई यह असन्दिग्ध है : उनके अनेक लाक्षणिक प्रयोग और प्रतीक योजनाएँ भी अंग्रेजी रोमांटिक काव्य का प्रभाव सूचित करती हैं। किन्तु यह प्रभाव अनुकरण कदापि नहीं है; उस काव्य की विशेषता को स्वायत्त करके एक नयी दृष्टि प्राप्त करके पन्त जी आगे बढ़े हैं। भारतीय परम्परा से पहले से भली भाँति परिचित होने के कारण वह यों भी निरे नयेपन के आकर्षण में नहीं पड़ सकते थे, और एक सचेत कलाकार के नाते वह निरन्तर नवीन विचारों के साथ अपनी साहित्यिक परम्परा का सामंजस्य भी खोजते गये। व्याप्ति पाती हुई उनकी सांस्कृतिक दृष्टि उनके काव्य को तीन सोपानों पर ले गयी है। सौन्दर्य-बोध पर समाज-बोध हावी हुआ है, और फिर उस पर अध्यात्म-बोध। आरम्भ के मुग्ध विस्मय का स्थान पहले एक दायित्व ज्ञान ने लिया है, और फिर एक व्यापक कल्याण-भावना ने। इस संक्रमण में बीच-बीच में सहज कौतूहल मानों फूट कर निकलता रहा है—और सौन्दर्य के प्रति कौतूहल ने केवल रूप-कौतूहल का नहीं, शब्द-कौतूहल, ध्वनि-कौतूहल, नाद-कौतूहल का भी रूप लिया है—किन्तु अब उसकी शान्तोदात्त गति मानो कल्पना की रंगीनी और आवेगों की चंचलता से ऊपर उठ गयी है : वह केवल एक अनिर्वचनीय आध्यात्मिक उन्मेष और आनन्द का सृजन करती है।

रामकुमार वर्मा भी छायावादी परम्परा के कवि हैं। उनकी प्रतिभा की मुख्य अभिव्यक्ति नाटक के क्षेत्र में हुई है; उनकी कविता में उच्च कोटि का परिमार्जन और सौष्ठव और अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रहते हुए भी उस कोटि की मौलिकता नहीं है जो कि 'निराला' और 'पन्त' के काव्य में की मूल शक्ति रही। रामकुमार वर्मा नया मार्ग बनानेवाले नहीं, प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करनेवाले रहे हैं, यह कथन उनके काव्य के गुणों को और साथ-साथ उनके कृतित्व की मर्यादा को सूचित करता है। छायावाद की भाव-प्रवण सहजता उनमें एक नियन्त्रित और अलंकृत रहस्यवादिता के रूप में प्रकट होती है : कवि की संवेदना को सदैव कलाकार का रूप-बोध संस्कार देता रहता है, और कभी तो संवेदना केवल एक निर्दिष्ट रूपाकार में हल्के-हल्के रंग भरती है। 'गीत' के प्रतिमान और 'कविता' के प्रतिमान में अन्तर असार नहीं है।

छायावाद के उपर्युक्त कवि सहज ही दो धाराओं में बँट जाते हैं, यद्यपि जैसा कि हम पहले भी कह आये हैं, सबकी वैयक्तिकता विशिष्ट है। भावी इतिहास-

कार कदाचित् 'निराला' और 'पन्त' को ही छायावाद के प्रतिनिधि कवि मानेगा, क्योंकि उसका शुद्ध रूप उन्हीं में प्रकट होता है। 'प्रसाद' का ऐतिहासिक ग्रह उस उच्छ्वसित वैयक्तिकता के आड़े आता है जो छायावाद का मूल लक्षण है; महादेवी वर्मा में भी 'प्रसाद' की भाँति एक संकोच है जिसका स्रोत दूसरा है। उनमें तीव्र संवेदना है और उनका क्षेत्र भी गीति काव्यात्मक है पर संवेदना की अपनी मर्यादाएँ होती हैं; संकोच—जिसके मूल में वही आशंका है कि भावों की सहज अभिव्यक्ति पाठक को अग्राह्य होगी और वह उसे सहानुभूति न दे सकेगा—उन्हें भी प्रतीकों का आश्रय लेने को बाध्य करता है। वह भी अपने भावावेगों को दबाती या आवृत करती हैं, और मनोवृत्तियों को मूर्त रूप देकर उत्तम पुरुष में उनके क्रिया-व्यापारों का वर्णन करके तटस्थता या विषयि-निरपेक्षता का आभास उत्पन्न करती हैं। किन्तु यह बात भी उनके पहले के काव्य के विषय में ही कही जा सकती है; उनमें सहज-द्रवित सूक्ष्म संवेदना तो थी, पर मुक्त अभिव्यक्ति को सम्भव बनानेवाला निःसंशय आत्म-विश्वास नहीं; फलतः उनके काव्य की दिशा उत्तरोत्तर अन्तर्मुख होती गयी और पीछे के काव्य को छायावादी न कह कर रहस्यवादी कहना ही उचित होगा। उसमें भावोच्छ्वास क्रमशः कम होता गया है; प्रतीकों का उत्तरोत्तर अधिक सहारा लिया गया है। उनका काव्य एक 'चिरन्तन' और 'असीम' प्रिय के प्रति निवेदित है जिसमें अशेष कोमलता है। सारी प्रकृति उसकी प्रतीक्षा में निःस्तब्ध सजगता से खड़ी है, आसन्न मिलन और आसन्न विरह के दो ध्रुवों में दोलायित जीवन की धूप-छाँह ही उनके काव्य की वर्ण्यवस्तु है।

*   *   *

मानव की प्रतिष्ठापना के काव्य की और गहरी पड़ताल करने पर हम देखते हैं कि इन आन्दोलनों के चलते-चलते ही हमारी मानव सम्बन्धी धारणाएँ बदलती गयी हैं और प्रतिष्ठा का अर्थ तो बदला ही है। फलतः मानव की प्रतिष्ठा का समान आग्रह करने वालों में भी कई दल हो गये हैं, जो न केवल परस्पर भिन्न हैं वरन् बहुधा उग्र विरोधी भी हैं।

'मानव की प्रतिष्ठा' का पहला और व्यापक अर्थ था मानव-समाज के आधारभूत नैतिक मूल्यों का पुनः परीक्षण, और एक नये लौकिक आधार पर उनकी स्थापना; अथवा देव-सम्भूत नैतिकता के बदले मानव-सम्भूत नैतिकता की प्रतिष्ठा। व्यापक दृष्टि से भी इस परिवर्तन के दो सोपान रहे: पहले लोकोत्तर नियमों अथवा ऋत का स्थान प्राकृतिक नियमों अथवा विज्ञान ने लिया, फिर प्रकृति के स्थान में मानव की प्रतिष्ठा हुई। परिवर्तन के इन दो सोपानों को ध्यान में रख कर ही हम उस वैविध्य को समझ सकते हैं जो इस काल की साहित्यिक

प्रगति में लक्षित हुआ।

विज्ञान द्वारा प्राकृतिक नियमों के शोध का जहाँ एक ओर यह परिणाम हुआ कि संसार के घटना-चक्र को हम विधि की वामता या स्वैर गति से संचालित न मान कर प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित मानने लगे और समझने लगे कि जीवन की प्रगति में एक स्पष्ट कार्य-कारण-परम्परा और संगति है, वहाँ दूसरी ओर यह भी एक परिणाम हुआ कि प्रकृति प्रत्यक्ष की अनैतिकता या अतिनैतिकता ने हमारे सदसद् विवेचन को निरर्थक सिद्ध कर दिया। पुण्य पुरस्कृत होता है, पाप का दंड मिलता है (इस लोक में या परलोक में) यह मानना असम्भव हो गया: यह असन्दिग्ध था कि प्रकृति पापी में और पुण्यवान् में कोई भेद नहीं करती। 'प्रकृति अतिनैतिक है' विज्ञान की इस पहली स्थापना से बढ़ कर साहित्यकार का यह मान लेना कि 'प्रकृति पापवृत्ति है' शोचनीय भले ही रहा हो, सर्वथा अकल्पनीय तो नहीं था। इस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान के बुद्धिवाद ने ही उस रोमांटिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन (और अपना पक्ष पुष्ट करने का उपकरण) दिया जो उसके विरोध में खड़ी हुई। निस्सन्देह प्राकृतिक नियमों के शोध में अग्रसर होते हुए विज्ञान ने हमें नये नैतिक मूल्य दिये, और रोमांटिक आन्दोलन की यह पाप-पूजा की आवृत्ति क्रमशः मरणोन्मुखता के दलदल में विलीन हो गयी —किन्तु इस बीच इसने सारे यूरोप के साहित्य को आक्रान्त किया। और जहाँ वह इतने स्पष्ट रूप में नहीं भी प्रकट हुई, वहाँ भी उसने अपना प्रभाव डाला। पाप-पूजा का सिद्धान्त सर्वत्र नहीं खड़ा किया गया; पर पाप के आकर्षण के लुभावने चित्र प्रस्तुत किये गये, और उस आकर्षण के सम्मुख मानव की दुर्बलता या असहायता को कारुणिक रूप में प्रस्तुत करके उसके लिए समवेदना की माँग की गयी। विज्ञान की प्रत्यक्ष प्रेरणा से जागे हुए विस्मय के भाव के साथ-साथ प्रच्छन्न मार्ग से आयी हुई मानव के असहाय प्रेम और कारुणिक वासना की यह भावना भी रोमांटिक आन्दोलन की एक मुख्य विशेषता रही। और आन्दोलन की अन्य विशेषताओं के साथ इसकी भी अनुगूंज (भले ही बहुत दूर से और बहुत देर से आयी हुई) भारतीय साहित्यों में पहचानी जा सकती है।

निस्सन्देह करुण प्रेम के मूल में ('करुण है हाय प्रणय'—पन्त) सामाजिक रूढ़ियों, निषेधों और विरोधों की नयी चेतना भी रही जिसने कवि को उन घटनाओं की ओर देखने की प्रेरणा दी जिन्हें पहले का कवि अनदेखा कर जाता था, और जिसने उसे यह भी दिखाया कि वे रूढ़ियाँ और निषेध जीर्ण, अनुचित, अमान्य और खंडनीय हैं; कि प्रेम का करुण होना नितान्त अनावश्यक है—बल्कि करुणा इसी में है कि जीर्ण रूढ़ियों को न तोड़ कर मानव व्यर्थ ही में उनका बोझ

होता चलता है।

नयी सामाजिक चेतना का प्रभाव तो स्पष्ट था ही और क्रमशः स्पष्टतर होता गया; पर उसके उन्मेष के कारण भी विविध थे। उनकी चर्चा हम अभी करेंगे। उससे पहले स्वच्छन्दतावाद के एक और उपेक्षित पक्ष की ओर संकेत कर देना उचित होगा। हमारे राष्ट्रीय काव्य पर अन्य प्रभावों के साथ एक प्रभाव यह भी था। विदेशी दासता के प्रति रोष, विगत गौरव की कसक, नये सांस्कृतिक अभिमान के साथ-साथ एक बलवती काव्य-प्रेरणा इस स्वच्छन्दता की भी थी। जहाँ एक ओर इससे प्रेरित कवि अपने 'फक्कड़पन', 'दीवानापन', 'मस्ती', 'अलमस्त फ़कीरी' का दावा करता था, वहाँ इसी के कारण वह स्वातन्त्र्य का भी दावा करता था : अर्थात् अपने स्वच्छन्दता के आदर्श को वह आध्यात्मिक पहिरावे में फ़कीरी या अनिकेतनत्व का दावा करके, सामाजिक पहिरावे में फक्कड़पन या दीवानगी का दावा करके, और राजनीतिक पहिरावे में विद्रोह या 'शहादतेवतन' का दावा करके उपस्थित करता था। छायावाद के आरम्भ के कवियों में यह बात उतनी स्पष्ट नहीं है; पर उनके सम्मुख मुख्य प्रश्न काव्य के तत्कालीन बहिर्मुख परिवेश के विरुद्ध अपनी अन्तरोन्मुखता का आग्रह करना, और गीति तत्त्व की प्रतिष्ठा के उपयुक्त भाषा का निर्माण करना ही है। इसके अतिरिक्त भारतीय चिन्तन और दर्शन के संस्कार उनमें अधिक गहरे हैं; इतर पश्चिमी प्रभाव चिन्तन के उतने नहीं जितने कृति साहित्य के हैं। छायावाद के प्रमुख कवियों में पन्त ने ही अपनी सूक्ष्मतर संवेदना के कारण इन प्रभावों को ग्रहण करके अभिनव रचनात्मक रूप दिया। फिर छायावाद के आरम्भ के कवियों में राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय स्वाधीनता का आग्रह भी उतना नहीं है, उन्होंने सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन पर ही अधिक बल दिया है। रोमांटिक स्वच्छन्दतावाद और राष्ट्रीय विद्रोहवाद का सम्बन्ध हम जितना स्पष्ट आतंकवादी विप्लव आन्दोलनों में देख सकते हैं, उतना ही समवर्ती साहित्यिक कृतियों में भी। नज़रुल इस्लाम का 'भगवान् के वक्ष पर पदचिह्न आँक देने' वाला 'विद्रोही भृगु', 'नवीन' का 'कारावासी लौह शक्ति' मस्त 'फ़कीर', भगवतीचरण वर्मा का 'मस्ती का आलम साथ लिये' 'बन्धन तोड़ चलने' वाला 'दीवाना,' और 'बच्चन' का 'लहरों से उलझने को फड़कती भुजाओं' वाला अधीर तीरवासी—ये सब सगे नहीं तो धर्म-भाई अवश्य हैं, और इन्हें मिलाने वाला धर्म स्वच्छन्दतावाद है। इतना ही नहीं, अविराम अटनशील यात्री का जो प्रतीक हम न केवल इन कवियों में वरन् नरेन्द्र शर्मा और 'सुमन' में भी पाते हैं (कहीं वह शाप-ग्रस्त है, कहीं नियति से बँधा, कहीं पथ के रहस्यमय आकर्षण से मर्यादित), वह भी रोमांटिक साहित्य की देन

है। इन परवर्ती कवियों ने पाश्चात्य साहित्य (काव्य और अकाव्य) अधिक पढ़ा, और भारतीय चिन्तन-परम्परा से इतनी प्रेरणा नहीं पा सके; अतः उनकी रचनाओं में उन प्रभावों को पहचानना कम कठिन है जो उनसे पहले भी क्रियाशील थे।

किन्तु साहित्यिक प्रभावों से अधिक गहरा और तीव्र प्रभाव सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों का था जो बड़ी द्रुत गति से बदल रही थीं। वैज्ञानिक शोधों के कारण जीव-जगत् में मानव के स्थान के विषय में धारणाएँ मूलतः बदल गयी थीं, और दूसरी ओर यन्त्र उद्योगों के विकास से सामाजिक सम्बन्ध बड़ी तेजी से बदल रहे थे—अर्थात् मानव-समाज में व्यक्ति के स्थान के विषय में नयी धारणाएँ बन रही थीं। प्राणिजगत् की योजना में मानव के स्थान का नया निरूपण एक प्रकार की आध्यात्मिक क्रान्ति था। उससे जीव मात्र के प्रति एक नये भाव का उदय हुआ और नये, मानव-सम्भूत नैतिक मूल्य प्रतिष्ठित होने लगे। नीति-स्रोत ईश्वर के स्थान पर जो नीति-निरपेक्ष प्रकृति बैठा दी गयी थी, उसका स्थान फिर नैतिक मानव को दिया गया। इस वैज्ञानिक मानववाद ने नये मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा की, और एक आत्मानुशासित नीतिवान् मानव व्यक्ति की परिकल्पना करने लगा। वास्तव में मानव ऐसा नहीं पाया गया, फिर भी उसकी प्रबोधन की सम्भावनाएँ अमित हैं और ज्यों-ज्यों वह प्रबुद्ध होता जायगा त्यों-त्यों वह स्वतः अधिक नीतिवान् होता जायगा, ऐसा इस नये मानववाद का आग्रह था। दूसरी ओर यन्त्र-उद्योगों ने श्रम-सम्बन्धों के विषय में जो नयी दृष्टि दी, वह वर्ग-संघर्षों पर आधारित सामाजिक क्रान्ति का स्रोत बनी। इसने सामूहिक कर्म को ही महत्त्व दिया और व्यक्ति के विकास के आग्रह को भ्रान्त और असामाजिक प्रवृत्ति घोषित किया। दोनों प्रकार के आग्रह मानव की प्रगति को और तीव्रता दे सकते या अपना स्वतन्त्र सन्तुलन स्थापित कर सकते, किन्तु राजनैतिक घटना-चक्र ने परिस्थिति को दूषित कर दिया और सामाजिकता का स्वस्थ आग्रह राजनीतिक संगठन द्वारा नियन्त्रण का मतवाद बन गया।

इस संघर्ष की जो निष्पत्ति हुई, वह वास्तव में इस संकलन के आगे की बात है। यहाँ संघर्ष का उल्लेख ही पर्याप्त है, क्योंकि संगृहीत कवियों की काव्य रचना इसी पृष्ठिका पर हुई। इस संघर्ष का बोध इन कवियों में लक्षित होता है, और समय-समय पर विभिन्न कवियों ने उसके सम्बन्ध में, या उससे प्रेरित विचार भी प्रकट किये हैं। कभी परस्पर-विरोधी विचार भी प्रकट किये गये हैं, और कभी ऐसा भी हुआ कि कवि ने अपने रचना कर्म को दो खंडों में बाँट दिया है। यह विभाजन कवि के अनिश्चय अथवा विभाजित मानस का ही प्रतिबिम्ब है, और प्रायः कवि को स्वयं अपनी स्थिति का बोध भी रहता है। वह दो प्रकार की

रचना करता है, एक को वह स्वयं 'क्षय ग्रस्त' या 'रोमानी' कह कर उसके प्रति अवहेलना दिखाता है, तो दूसरी को वही 'सामयिक प्रवृत्ति के अनुकूल' अथवा 'वाद को पुष्ट करने के लिए लिखी गयी' बता कर अवमान्य ठहरा देता है।

*　　　　*　　　　*

संगृहीत कवियों में सुभद्राकुमारी चौहान ही पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त हैं और उनकी 'राष्ट्रीयता' राजनीतिक राष्ट्रवादिता की अपेक्षा शुद्ध भारतीयता ही अधिक है : उनके काव्य में प्रसाद गुण भी है और ओज गुण भी : स्त्री कवियों में वह अपने ढंग की अद्वितीय रहीं। राष्ट्रीय अथवा भारतीयता की कविताओं के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओं को एक ऋजु ममत्व, एक व्यापक वात्सल्य अनुप्राणित करता है। सियारामशरण गुप्त के उपन्यासों की सहज आत्मीयता का काव्यात्मक प्रतिफलन सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं में मिलता है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' के काव्य की मस्ती और तीव्र सामाजिक चेतना—जो कभी-कभी आक्रोश की सीमा तक पहुँच जाती है और जिसके कारण उन्होंने सामाजिक व्यंग्य की कविता भी लिखी है—उन्हें अपने समवर्ती कवियों से सम्बद्ध करती है : किन्तु इसके बावजूद वह एक विशेष कारण से अपने समवर्तियों से पृथक् हो जाते हैं। यहाँ हमारा इंगित उनके राष्ट्रीयतावादी या उद्बोधन काव्य की, अथवा उनकी सामाजिक मंगलाकांक्षा की ओर नहीं है बल्कि इस बात की ओर कि एक व्यक्तिवादी वातावरण में आगे आकर भी उन्होंने न केवल व्यक्तिवादी दृष्टि को अपनाया नहीं बल्कि उसका प्रत्याख्यान भी किया। कहा जा सकता है कि मस्ती और मौज के उपासक, पौरुष के दर्प के कवि होकर भी उन्होंने स्वच्छन्दतावाद का दर्शन नहीं अपनाया। प्रवृत्तिगत भेदों के रहते हुए भी किसी को यदि मैथिलीशरण गुप्त का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है तो 'दिनकर' को ही। **'कुरुक्षेत्र'** इस कथन को और भी बल देता है। वह उस अर्थ में कथा-काव्य नहीं है जिस अर्थ में **'साकेत'** कथा-काव्य है। क्योंकि उसमें घटना-वर्णन तो है ही नहीं; न ही वह **'यशोधरा'** के ढंग का कथा-काव्य है जिसमें घटनाओं का वर्णन तो नहीं है, पर विभिन्न पात्रों की विभिन्न समयों की मनस्थिति के वर्णन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से घटना-प्रवाह सूचित कर दिया गया है। **'कुरुक्षेत्र'** वास्तव में एक नाटकीय संवाद है, उसकी नाटकीय तीव्रता ही उसके मानसिक ऊहापोह और तत्त्वचिन्तन को नीरस होने से बचा लेती है और उस कथा को मानो मूर्त कर देती है जो उसके पीछे घटित हुई है और उस स्थिति को लायी है जिसमें संवाद हो रहा है। किन्तु फिर भी **'कुरुक्षेत्र'** परिपाटी-सम्मत प्रबन्ध-काव्यों से सर्वथा भिन्न और गुप्त जी के काव्यों के निकट है; क्योंकि उनकी दृष्टि

में साम्य है और वे मानवता और मानवीयता की प्रतिष्ठा करते हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री हरिवंशराय 'बच्चन' छायावाद के उत्तर काल के कवि हैं। कवि की कवि से तुलना किये बिना कहा जा सकता है, जैसे स्विनबर्न या रोज़ेटी रोमांटिक युग के उत्तर काल के कवि थे।

यह कथन इस सन्दर्भ में सार्थक होता है कि पन्त और 'निराला' छायावाद के पूर्वकाल के कवि हैं। रोमांटिक प्रवृत्ति का विस्मय-भाव वर्मा जी या 'बच्चन' की कविता में प्रायः बिल्कुल नहीं है, किन्तु प्रकृति की शक्तियों के और अपनी वासना के आकर्षण के सम्मुख असहाय मानव उसका केन्द्र विन्दु है। उसकी असहायता उसके जीवन को अस्थिर, उसकी नैतिक मान्यताओं को निराधार और उसके सुख-दुख को क्षणभंगुर बना देती है। मोहाविष्ट वह निरन्तर चलता है : जीवन एक प्रकार की मदिरा है जो उसके मोह को बनाये रखती और उसे पथ पर प्रवृत्त किये चलती है। 'बच्चन' का मुहावरा उमर ख़ैयाम (अर्थात् फ़िट्ज़जैरल्ड के अंग्रेज़ी उमर ख़ैयाम) का मुहावरा है, और उनके प्रतीक भी उसी से प्रभावित हैं, पर उनकी कविता रोमांटिक प्रवाह से अलग नहीं है।

परवर्ती आध्यात्मिक प्रवृत्ति उन्हें पृथक् न करती, तो श्री नरेन्द्र शर्मा इन दोनों के अधिक निकट हो सकते; पर आरम्भ से ही उनका पथ कुछ भिन्न रहा क्योंकि उनका प्रकृति प्रेम उन्हें पन्त के निकट ले जाता था यद्यपि प्रकृति के प्रति वैसा विस्मय-भाव उनमें नहीं था। कई दृष्टियों से उनका विकास पन्त के ही समान्तर चलता है।

श्री बालकृष्ण राव मूलतः रोमांटिक कवियों से प्रभावित और छायावाद के सहयात्री होते हुए भी संकलित अन्य कवियों से अलग कोटि में आते हैं। इसके अनेक कारण हैं। एक तो भारतीय और विदेशी काव्य साहित्य से विस्तृत परिचय के कारण उनकी दृष्टि व्यापक है। दूसरे—कदाचित् उपर्युक्त कारण से भी—उनका भाषा प्रयोग अधिक 'आधुनिक' है। उनकी वाक्य-रचना गद्य के अधिक निकट आती है। तुकान्त छन्दोबद्ध रचना में, लय के नियमों का निर्वाह करते हुए भी वह आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल यति को स्थिर न रख कर पंक्तियों में वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार छायावाद से आरम्भ करके भी वह वैज्ञानिक आधुनिक दृष्टि के कारण उससे पृथक् हो गये हैं।

हंसकुमार तिवारी पर बांग्ला का और विशेषतया रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य का प्रभाव रहा है। इसलिए उनका काव्य समकालीन द्विधा को भरपूर अभिव्यक्ति देता है। एक ओर उसमें छायावाद की गीतात्मकता है और दूसरी ओर सम-कालीन सामाजिक दबावों का बोझ भी। उनके काव्य में एक स्वस्थ भाव है जो

उसे समकालीन रूक्ष और तीव्र स्वरों से बचाता रहा है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' और शम्भूनाथसिंह अपने जनवादी आग्रह के बावजूद उत्तरकालीन छायावाद से अधिक दूर नहीं गये हैं। कहा जा सकता है कि खंडित कवि-कर्म वाला पथ उन्होंने भी अपनाया है : मुख्य प्रवृत्ति रोमांटिक रहते हुए अनेक कविताएँ उन्होंने अलग ढंग की लिखी हैं। वादाक्रान्त वातावरण में ऐसी कविताओं ने पाठकों के कुछ वर्गों में प्रतिष्ठा पायी है, जबकि बहुसंख्य समाज दूसरे प्रकार की कविताओं में रस लेता रहा है, और कदाचित् ये दूसरे प्रकार की कविताएँ ही अपने रचयिताओं के भावी कवि-यश का आधार होंगी। प्रबल व्यक्तित्व का आकर्षण 'सुमन' को सदैव ही प्रभावित करता है और उनकी कविता में वीर-पूजा का स्वर बराबर मुखर होता है। छन्द की दृष्टि से उन्होंने मुक्त वृत्त का भी सफल उपयोग किया है। शम्भूनाथसिंह ने लोक-गीतों की धुनों से यथेष्ट प्रेरणा ली है और अनेक ऐसे प्रतीक और अभिप्राय अपनाये है जिनसे उनके गीतों का प्रभाव क्षेत्र और व्यापक हो जाता है।

साहित्य में युग-विभाजन मानचित्र की सीमा-रेखाओं की भाँति नहीं होता और विशेषतया समकालीन अथवा निकट काल की प्रवृत्तियों का पृथक्करण और भी कठिन होता है। एक युग की प्रवृत्तियाँ परवर्ती युग में भी लक्षित होती रहती हैं और अनन्तर मुखर होने वाले स्वरों के पूर्व संकेत अतीत युग में भी मिल जाते हैं। फिर भी कहा जा सकता है कि प्रस्तुत संकलन जिस युग की कविता का प्रतिनिधित्व करता है उसके बाद हिन्दी कवियों ने एक नया मोड़ लिया। नये संक्रमण में हिन्दी कविता के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हुआ। खड़ी बोली का काव्य पहले लोक-भूमि पर उतरा, उसकी दृष्टि ईश्वर-परक से बदल कर मानव-परक हुई, फिर उसने मानव-समाज के भीतर व्यक्ति और समाज के रूप और उनकी परस्परता को पहचाना—देखा कि वे परस्पर-विरोधी और परस्पर-पूरक, अन्योन्याश्रित और अन्योन्य-सम्भूत हैं। फिर कविता के बहिरंग या अन्तरंग के परिष्कार या उन्मोचन से आगे बढ़ कर एक नये आन्दोलन ने आग्रह किया कि वह कवि की संवेदना को एक नये स्तर पर ले जाय, ग्रहण करने वाली चेतना और गृहीत सम्पूर्ण इयत्ता के सम्बन्ध को ही नया रूप दे दे। और यह किसी असाधारणत्व के दावे के साथ नहीं बल्कि अपनी साधारणता को उतनी ही सहजता के साथ स्वीकार करते हुए जितनी से अपनी अद्वितीयता को। उसे कहाँ तक सफलता मिली है, या मिल भी सकती है, यह अन्यत्र भी विवादास्पद है, और यहाँ तो अप्रासंगिक भी। यहाँ तो हम हिन्दी कविता के एक संचरण की पूर्ति पर विश्राम लेते हैं।

● ●

('रूपाम्बरा' की भूमिका)

प्रकृति-काव्य : काव्य-प्रकृति

प्रकृति की चर्चा करते समय सबसे पहले परिभाषा का प्रश्न उठ खड़ा होता है। प्रकृति हम कहते किसे हैं? वैज्ञानिक इस प्रश्न का उत्तर एक प्रकार से देते हैं, दार्शनिक दूसरे प्रकार से, धर्म-तत्त्व के चिन्तक एक तीसरे ही प्रकार से। और हम चाहें तो इतना और जोड़ दे सकते हैं कि साधारण व्यक्ति का उत्तर इन सभी से भिन्न प्रकार का होता है।

और जब हम 'एक प्रकार का उत्तर' कहते हैं, तब उसका अभिप्राय एक उत्तर नहीं है, क्योंकि एक ही प्रकार के अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसी लिए वैज्ञानिक उत्तर भी अनेक होते हैं; दार्शनिक उत्तर तो अनेक होंगे ही, और धर्म पर आधारित उत्तरों की संख्या धर्मों की संख्या से कम क्यों होने लगी?

प्रश्न को हम केवल साहित्य के प्रसंग में देखें तो कदाचित् इन अलग-अलग प्रकार के उत्तरों को एक सन्दर्भ दिया जा सकता है। साहित्यकार की दृष्टि ही इन विभिन्न दृष्टियों के परस्पर विरोधों से ऊपर उठ सकती है—उन सबको स्वीकार करती हुई भी सामंजस्य पा सकती है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि की अपनी समस्याएँ हैं; क्योंकि एक तो साहित्य दर्शन, विज्ञान और धर्म के विश्वासों से परे नहीं होता, दूसरे सांस्कृतिक परिस्थितियों के विकास के साथ-साथ साहित्यिक संवेदना के रूप भी बदलते रहते हैं।

साधारण बोल-चाल में 'प्रकृति' 'मानव' का प्रतिपक्ष है, अर्थात् मानवेतर ही प्रकृति है—वह सम्पूर्ण परिवेश जिसमें मानव रहता है, जीता है, भोगता है और संस्कार ग्रहण करता है। और भी स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रकृति मानवेतर का वह अंश हो जाती है जो कि इन्द्रियगोचर है—जिसे हम देख, सुन और छू सकते हैं, जिसकी गन्ध पा सकते हैं और जिसका आस्वादन कर सकते हैं। साहित्य की दृष्टि कहीं भी इस स्थूल परिभाषा का खंडन नहीं करती : किन्तु साथ ही कभी अपने को इसी तक सीमित भी नहीं रखती। अथवा यों कहें कि अपनी स्वस्थ अवस्था में साहित्य का प्रकृति-बोध मानवेतर, इन्द्रियगोचर, बाह्य परिवेश तक जाकर ही नहीं रुक जाता; क्योंकि साहित्यिक आन्दोलनों की अधो-गति में विकृति की ऐसी अवस्थाएँ आती रही हैं जब उसने बाह्य सौन्दर्य के तत्त्वों के परिगणन को ही दृष्टि की इति मान लिया है। यह साहित्य की अन्तःशक्ति

का ही प्रमाण है कि ऐसी रुग्ण अवस्था से वह फिर अपने को मुक्त कर ले सका है, और न केवल आभ्यन्तर की ओर उन्मुख हुआ है बल्कि नयी और व्यापकतर संवेदना पाकर उस आभ्यन्तर के साथ नया राग-सम्बन्ध भी जोड़ सका है।

राग-सम्बन्ध अनिवार्यतया साहित्य का क्षेत्र है। किन्तु राग-सम्बन्ध उतने ही अनिवार्य रूप से साहित्यकार की दार्शनिक पीठिका पर निर्भर करते हैं। यदि हम मानते हैं—जैसा कि कुछ दर्शन मानते रहे—कि प्रकृति सत् है, मूलतः कल्याणमय है, तब उसके साथ हमारा राग-सम्बन्ध एक प्रकार का होगा—अथवा हम चाहेंगे कि एक प्रकार का हो। यदि हम मानते हैं कि प्रकृति मूलतः असत् है, तो स्पष्ट ही हमारी राग-वृत्ति की दिशा दूसरी होगी। यदि हम मानते हैं कि प्रकृति त्रिगुण-मय है किन्तु अविवेकी है, तो हमारी प्रवृत्ति और होगी : और यदि हमारी धारणा है कि प्रकृति सदसद् से परे है तो हम उसके साथ दूसरे ही प्रकार का राग-सम्बन्ध चाहेंगे—अथवा कदाचित् यही चाहेंगे कि जहाँ तक प्रकृति का सम्बन्ध है हम वीतराग हो जावें! विभिन्न युगों के साहित्य-कारों के प्रकृति के प्रति भाव की पड़ताल करने में हम उन भावों में और साहित्य-कार के प्रकृति-दर्शन में स्पष्ट सम्बन्ध देख सकेंगे।

कवियों के प्रकृति-वर्णन अथवा निरूपण की चर्चा में उनके आधारभूत दार्शनिक विचारों अथवा धर्म-विश्वासों तक जाना यहाँ कदाचित् अनपेक्षित होगा। उतने विस्तार के लिए यहाँ स्थान भी नहीं है। किन्तु कवि के संवेदन पर उसकी दार्शनिक अथवा धार्मिक आस्था के प्रभाव की अनिवार्यता को स्वीकार करके हम प्रकृति-वर्णन की परम्परा का अध्ययन कर सकते हैं। वैदिक कवि—मन्त्रद्रष्टा को कवि कहना उसकी अवहेलना नहीं है—प्रकृति की सत्ता का सम्मान करता था और मानता था कि उसकी अनुकूलता ही सुख और समृद्धि का आधार है। सुखी और सम्पूर्ण जीवन का जो चित्र उसके सम्मुख था उसमें मनुष्य की और प्रकृति की शक्तियों की परस्पर अनुकूलता आवश्यक थी। प्राकृतिक शक्तियों को वह देवता मानता था, किन्तु देवता होने से ही वे अनुकूल हो जायेंगी ऐसा उसका विश्वास नहीं था—उनकी अनुकूलता के लिए वह प्रार्थी था। कहा जा सकता है कि उसकी दृष्टि में ये शक्तियाँ सदसद् से परे ही थीं किन्तु उन्हें अनुकूल बनाया जा सकता था।

> **यथा द्यौश्च पृथ्वी च न बिभीतो न रिष्यतः**
> **एवा मे प्राण मा बिभेः**

यथाऽहश्च रात्री च न विभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः

यह प्रार्थना करने वाला व्यक्ति जहाँ यह कामना करता था कि प्रकृति की शक्तियों के प्रति उसके प्राण भय रहित हों, वहाँ यह भी मानता था कि वे शक्तियाँ भी राग-द्वेष से परे हैं। इतना ही नहीं, मध्य युग की पाप-पुण्य की भावना भी उसमें नहीं थी—हो भी नहीं सकती थी जब तक कि वह प्रकृति को पाप-मूलक न मान लेता—और उसके निकट दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, सत्य और असत्य, सभी एक से निर्भय थे। वह अपनी प्रार्थना में यह भी कहता था कि—

यथा सत्यं चाऽनृतं च न विभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥

यह कहने का साहस मध्य काल के कवि को नहीं हो सकता था—पाप की परिकल्पना कर लेने के बाद यह सम्भावना ही सामने नहीं आती कि अनृत भी सत्य के समान ही निर्भय हो सकता है।

वैदिक कवि क्योंकि प्रकृति को न सत् मानता है न असत्, इसलिए प्रकृति के प्रति उसका भाव न प्रेम का है न विरोध का। वह मूलतः एक विस्मय का भाव है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे

यह उसके भव्य विस्मय की ही उक्ति है। और यदि वह आगे पूछता है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

तो यह किंकर्तव्यता भी आतंक का नहीं, शुद्ध विस्मय का ही प्रतिबिम्ब है। **उषा-सूक्त** में उषा के रूप का वर्णन, **पृथ्वी-सूक्त** में पृथ्वी से पृथ्वी-पुत्र मनुष्य के सम्बन्ध का निरूपण, इन्द्र और मरुत् के प्रति उक्तियाँ—काव्य की दृष्टि से ये सभी वैदिक मानव के विस्मय भाव को ही प्रतिबिम्बित करती हैं—उस शिशुवत् विस्मय को जिसमें भय का लेश भी नहीं है। **ऋग्वेद** का **मण्डूक-सूक्त** इस विस्मयाह्लाद का उत्तम उदाहरण है।

वाल्मीकि के **रामायण** में प्रकृति का काव्य-रूप बहुत कुछ बदल गया है। वाल्मीकि के राम यद्यपि तुलसीदास के मर्यादा-पुरुषोत्तम से भिन्न कोटि के नायक हैं, तथापि मर्यादा का भाव वाल्मीकि में अत्यन्त पुष्ट है। बल्कि यह भी कहना अनुचित न होगा कि जिस घटना से आदि-काव्य का उद्भव माना जाता है वह घटना ही एक मर्यादा अंकित करती है। वास्तव में क्रौंच-वध वाली घटना में जो

लोग शुद्ध कारुण्य देखते हैं वे थोड़ी-सी भूल करते हैं। आदि-कवि ने क्षुब्ध होकर निषाद को जो शाप दिया था, उसके मूल में शुद्ध जीव-दया की अपेक्षा मर्यादा-भंग के विरोध का ही भाव अधिक था। पक्षी मात्र को मारने का विरोध वाल्मीकि ने नहीं किया। परिस्थिति-विशेष में पक्षी के वध को अधर्म मानकर ही उन्होंने व्याध की शाश्वत अप्रतिष्ठा की कामना की। उस परिस्थिति में कोई भी प्राणी अवध्य है, यही विश्वास महाभारत में भी पाया जाता है जो मृगया के वृत्तान्तों से भरा हुआ है। पाण्डु की मृत्यु जिस दारुण परिस्थिति में हुई उसका कारण भी मृगया नहीं थी—मृगया तो राज-धर्म का अंग था—किन्तु परिस्थिति-विशेष में मृग पर बाण छोड़ने का अधर्म अथवा मर्यादा-भंग ही राजा के प्राणान्त का कारण हुआ। यह भी उल्लेख्य है कि क्रौंच की कथा में क्रौंच-युगल को शापग्रस्त मुनि-युगल सिद्ध करना आवश्यक नहीं समझा गया: वाल्मीकि की करुणा पक्षी को पक्षी मान कर ही दी गयी। किन्तु महाभारत में राजा के प्राण मृग के प्राण से कदाचित् अधिक मूल्यवान् समझे गये, इसलिए अपराध और दण्ड में सामंजस्य लाने के लिए मृग-युगल को मुनि-युगल सिद्ध करना पड़ा। जो हो, यहाँ भी जीव-दया का आत्यन्तिक आदर्श नहीं है, बल्कि जीव-वध की मर्यादा का ही निर्देश है।

किन्तु जीव-दया के आदर्श के विकास का अध्ययन हमारा विषय नहीं है। हम प्रकृति के प्रति वाल्मीकि के राग-भाव की, और वैदिक कवि के भाव से उसके अन्तर की चर्चा कर रहे थे। काव्य-युग में यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है—दूसरे शब्दों में मानवीय दृष्टि के विकास की एक और सीढ़ी परिलक्षित होने लगती है: शास्त्रीय शब्दावली में यदि कहा जाये कि प्रकृति काव्य का आलम्बन न रहकर क्रमशः उद्दीपन होती जाती है, तो यह कथन असंगत तो न होगा, किन्तु बात इतनी ही नहीं है। एक तो प्रकृति-वर्णन का उद्दीपन के लिए उपयोग वाल्मीकि ने भी किया—किष्किन्धा-काण्ड का शरद्-वर्णन यद्यपि प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से सच्चा और खरा है तथापि उसके वहाँ होने का मुख्य काव्य-गत कारण राम के पत्नी-विरह को उद्दीपित रूप में हमारे सम्मुख लाना ही है। यही कारण है कि वह वर्णन जो बिम्ब हमारे सम्मुख उपस्थित करता है वे सभी शृंगार-भाव से अनुप्राणित हैं। दूसरे, काव्य युग के महारथियों ने प्रकृति को केवल उद्दीपन रूप में देखा हो, ऐसा भी नहीं है। बल्कि कालिदास का प्रकृति-पर्यवेक्षण और अध्ययन तथा उनका प्रकृति-प्रेम भारतीय काव्य-परम्परा में अद्वितीय है।

वास्तव में अन्तर को ठीक-ठीक समझने के लिए जो प्रश्न पूछना होगा वह यह नहीं है कि प्रकृति के उपयोग में क्या अन्तर आ गया। प्रश्न यह पूछना चाहिए कि जिस प्रकृति की ओर कवि आकृष्ट था वह प्रकृति कैसी थी?

कालिदास का प्रकृति-प्रेम वाल्मीकि से कम हार्दिक नहीं है। न उनका काव्य आलम्बन के रूप में प्रकृति को आदि-कवि की रचनाओं से कम महत्त्व देता है। फिर भी उसमें वाल्मीकि की सी सहजता नहीं है। न वैदिक कवि का विस्मय भाव ही है। कालिदास की प्रकृति अपेक्षया अलंकृत है। कवि जितना प्रकृति से परिचित है उतना ही प्रकृति-सम्बन्धी अनेक कवि-समयों से भी—अर्थात् वह अपने काव्य की परम्परा से भी परिचित है और उस परिचय की अवज्ञा नहीं करता है। कवि-समय को सत्य वह नहीं मानता, क्योंकि उसका अनुभव उन्हें मिथ्या सिद्ध करता है; किन्तु फिर भी उन समयों का वह व्यवहार करता है क्योंकि काव्य-सौन्दर्य के लिए परम्परा से काम लेने का यह भी एक साधन है। **ऋतुसंहार** के ऋतु-वर्णन अथवा **कुमारसम्भव** के हिमालय-वर्णन में परम्परागत कवि-समयों का कवि के निजी अनुभव के साथ ऐसा अभिन्न योग हुआ है कि इन तत्त्वों का विश्लेषण सौन्दर्य को नष्ट किये बिना हो ही नहीं सकता।

आवश्यक परिवर्तन के साथ यही बात भवभूति के प्रकृति-वर्णन के विषय में भी कही जा सकती है।

वास्तव में काव्य-युग का कवि जो प्रकृति को केवल आलम्बन के रूप में अपने सम्मुख नहीं रख सका, और न ही उसे निरे उद्दीपन के रूप में एक उपकरण का स्थान दे सका, उसका कारण यही था कि प्रकृति से उसका सम्बन्ध भिन्न प्रकार का हो गया था। व्यवस्थित और निरापद जीवन में उसके लिए यह आवश्यक नहीं रहा था कि प्रकृति की शक्तियों को वैसे आत्यन्तिक और मानवीकृत अथवा देवतावत् रूपों में देखे जैसे रूप वैदिक कवि के उद्दिष्ट रहे। दूसरी ओर प्रकृति से उसका सम्बन्ध वैसा उच्छिन्न भी नहीं हो गया था जैसा रीतिकालीन कवियों का, जिनके निकट प्रकृति केवल एक अभिप्राय रह गयी थी, और प्रकृति का चित्रण केवल प्रकृति-सम्बन्धी कवि-समयों की एक न्यूनाधिक चमत्कारी सूची। काव्य-युग के संस्कृत कवि के लिए प्रकृति शोभन, रम्य और स्फूर्तिप्रद थी। प्राकृतिक शक्ति के रूप में उसे मानव का प्रतिपक्ष माना जा सकता था, किन्तु अपने इस नये रूप में वह मानव की सहचरी हो गयी थी।

•

निःसन्देह संस्कृत काव्य-परम्परा की समवर्तिनी एक दूसरी काव्य-परम्परा भी रही जिसकी खोज में हमें प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की ओर देखना होगा। संस्कृत और प्राकृत काव्य बराबर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे; और कवि-समयों अथवा अभिप्रायों का आदान-प्रदान उनमें होता रहा। किन्तु विस्तार से बचने के लिए उनकी चर्चा यहाँ छोड़ दी जा सकती है। ऐसा इसलिए भी अनु-

चित न होगा कि इसी प्रकार का सम्बन्ध हम अनन्तर खड़ी बोली हिन्दी की कविता में तथा उसकी पृष्ठभूमि और उसके परिपार्श्व में फैले हुए लोक-काव्य में भी देख सकते हैं। इनमें भी आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा, किन्तु इस क्रिया की बढ़ी हुई गति आधुनिक युग की एक विशेषता मानी जा सकती है। क्यों यह आदान-प्रदान इस काल में अतिरिक्त तीव्रता के साथ होने लगा, इस प्रश्न का उत्तर भी हमें आधुनिक संवेदना के रूप-परिवर्तन में मिलेगा। मानव और प्रकृति दोनों की नयी अवधारणा ने स्वभावतया उनके परस्पर सम्बन्ध को बदल दिया और इसलिए प्रकृति के वर्णन अथवा चित्रण को अनुप्राणित करने वाले राग-तत्त्व भी बदल गये।

किन्तु बीच की सीढ़ी की उपेक्षा कर जाना भ्रान्ति का कारण हो सकता है।

प्रकृति-काव्य के विवेचन में वास्तव में समूचे रीति-युग को छोड़ ही देना चाहिए, क्योंकि रीतिकालीन कवियों में से कुछ ने यद्यपि प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का प्रमाण दिया है, तथापि उनके निकट प्रकृति काव्य-चमत्कार के लिए उपयोज्य एक साधन-मात्र है। प्रकृति के मानवीकरण की बात तो दूर, रीति-काल के कवि उसकी स्वतन्त्र इयत्ता के प्रति भी उदासीन हैं—उनके निकट वह केवल एक अभिप्राय है—अलंकृति के काम आ सकता है। यह प्रकृति से राग-सम्बन्ध की जर्जरता का ही परिणाम था कि रीति-कालीन कवि प्राकृतिक तत्त्वों की सूची प्रस्तुत कर देना ही उद्दीपन के लिए पर्याप्त समझने लगा। यदि उसका राग-सम्बन्ध कुछ भी प्राणवान् होता, तो वह समझता कि प्रकृति-सम्बन्धी शब्दावली का ऐसा कोशवत् उपयोग उद्दीपन का भी काम नहीं कर सकता क्योंकि जिस काव्य में राग का अभाव स्पष्ट लक्षित होता है वह दूसरे में राग-भाव नहीं जगा सकता, अपने अभाव को चाहे कितने ही कौशल से छिपाया गया हो। प्रकृति के बाहरी आकारों की सूची बनाने की यह प्रवृत्ति रीति-काल तक ही सीमित नहीं रही बल्कि आधुनिक काल तक चली आयी। बीसवीं शती में भी जो महाकाव्य लिखे गये वे अधिकतर प्रकृति-वर्णन की इसी लीक को पकड़े रहे और पिंगल-ग्रन्थों ने भी अभ्यासियों के लिए विभावों की सूचियाँ प्रस्तुत कीं।

वास्तव में इस जीर्ण परम्परा से विमुख होकर प्रकृति को काव्य में नये प्राण देने की प्रवृत्ति हिन्दी में पश्चिमी साहित्य के, अथवा उससे प्रभावित बांग्ला साहित्य के सम्पर्क से जागी। इस कथन का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि खड़ी बोली का प्रकृति-वर्णन अनुकृति है, क्योंकि अनुकृति का विरोध ही तो इसकी प्रेरणा रही। अभिप्राय यह भी नहीं है कि हिन्दी कवि अपने पूर्वजों की अनुकृति छोड़कर विदेशी कवियों की अनुकृति करने लगे, क्योंकि हिन्दी की नयी प्रवृत्ति

प्राचीनतर भारतीय परम्पराओं से कटी हुई कदापि नहीं थीं। बल्कि उदाहरण देकर दिखाया जा सकता है कि कैसे छायावाद के और परवर्ती प्रमुख कवियों ने पूरे आत्म-चेतन भाव से संस्कृत काव्यों से और वैदिक साहित्य से न केवल प्रेरणा पायी वरन् उपमाएँ और बिम्ब ज्यों के त्यों ग्रहण किये।

पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा पाने का आशय यह भी नहीं है कि यदि पश्चिम से सम्पर्क न हुआ होता तो हिन्दी साहित्य में प्रकृति की नयी चेतना न जागी होती। वास्तव में किसी भी प्रवृत्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी विशेष साहित्य में कभी नहीं प्रकट होगी। जो साहित्य जीवित है—अर्थात् जिस साहित्य को रचनेवाला समाज जीवित है—उसमें समय-समय पर जीर्णता का विरोध करनेवाली नयी प्रवृत्तियाँ प्रकट होंगी ही। दूसरे साहित्यों से प्रभाव ग्रहण करने की भी एक क्षमता और तत्परता होनी चाहिए जो हर साहित्य में हर समय वर्तमान नहीं होती बल्कि विकास अथवा परिपक्वता की विशेष अवस्था में ही आती है। इसलिए किसी प्रभाव से जो रचनात्मक प्रेरणा मिली, उसे अनुकृति कहना या हेय मानना अनुचित है और बहुधा ऐसी समालोचना करने वाले के आत्मावसाद अथवा हीनभाव का ही द्योतक होता है। शिशु बोलना अनुकरण से सीखता है, किन्तु कवि-समुदाय में रख देने से ही बालक कविता नहीं करने लगता। जब वह कविता रचता है तो वह इतने भर से अनुकृति नहीं हो जाती कि वह कवियों के सम्पर्क में रहा और उनसे प्रभाव ग्रहण करता रहा। उसकी ग्रहणशीलता और उस पर आधारित रचना-प्रवृत्ति स्वयं उसके विकास और उसकी शक्ति के द्योतक हैं।

पश्चिमी काव्य के परिचय से भारतीय कवि एक बार फिर प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता की ओर आकृष्ट हुआ। कहा जा सकता है कि इसी परिचय के आधार पर वह स्वयं अपनी परम्परा को नयी दृष्टि से देखने लगा और उसके सार तत्त्वों को नया सम्मान देने लगा। निःसन्देह अनुकरण भी हुआ, किन्तु जो केवल मात्र अनुकरण था वह कालान्तर में उसी गौण पद पर आ गया जो उसके योग्य था। उषा-सुन्दरी का मानवी रूप छायावादियों का आविष्कार नहीं था, और उसकी परम्परा ऋग्वेद तक तो मिलती ही है। किन्तु जब कवि ने छाया को भी मानवी आकृति देकर पूछा :

कौन, कौन तुम, परिहृत-वसना
म्लानमना, भू-पतिता-सी ?

तब उसके अवचेतन में वैदिक परम्परा उतनी नहीं रही होगी जितना अंग्रेजी रोमांटिक काव्य जिसमें प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण साधारण बात थी।

किन्तु नयापन केवल इतना नहीं था—पुरानेपन का नया सँवार-भर नहीं था : मानवीकरण केवल विषयाश्रित नहीं था। बल्कि प्रकृति के मानवीकरण का विषयिगत रूप और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था।

मानवीकरण का यह पक्ष वास्तव में वैयक्तिकीकरण का पक्ष था। यही तत्त्व था जिसने प्रकृति-वर्णन को प्राकृतिक अभिप्रायों के वर्णन से अलग करके काव्योचित दृष्टि को रूप दे दिया। यद्यपि नये जागरण ने हिन्दी कविता का सम्बन्ध रीतिकाल के अन्तराल के पार अपभ्रंशों, प्राकृतों और संस्कृत काव्य की परम्परा से जोड़ा था, तथापि इसके आधार पर जो दृश्य-चित्र सामने आये थे नये होकर भी इस अर्थ में एक-रूप थे कि विभिन्न कवियों के द्वारा प्रस्तुत किये गये होने पर भी वे मूलतः समान थे—ऐसा नहीं था कि उस विशेष कवि के व्यक्तित्व से उन्हें अलग किया ही न जा सके। दार्शनिक पृष्ठिका के विचार से कहा जा सकता है कि सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रकृति की कल्पना प्रेयसी के रूप में की और 'निराला' ने संवाहिका शक्ति के रूप में; और दोनों कवियों के प्रकृति-चित्रण में समानता और अन्तर दोनों ही पहचाने जा सकते हैं। किन्तु जिस व्यक्तिगत अन्तर की बात हम कह रहे हैं वह इससे गहरा था। निःसन्देह काव्यगत चित्रों पर कवि के व्यक्तित्व के इस आरोप का अध्ययन पश्चिमी साहित्य के सन्दर्भ में किया जा सकता है और दिखाया जा सकता है कि उसमें भी अंग्रेजी रोमांटिक काव्य के व्यक्तिवाद का कितना प्रभाव था। और यदि व्यक्तिवाद के विकृत प्रभावों को ही ध्यान में रखा जाय तो यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि पश्चिमी प्रभाव यहाँ भी विकृतियों का आधार बना, जैसा कि वह पश्चिम में भी बना था। किन्तु किसी प्रभाव का केवल उसकी विकृतियों के आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। और रोमांटिक व्यक्तिवाद का स्वस्थ प्रभाव यह था कि उसने प्रकृति के चित्रों को एक नयी रागात्मक प्रामाणिकता दी। जो तथ्य था और सबका 'जाना हुआ' था उसे उसने एक व्यक्ति का 'पहचाना हुआ' बनाकर उसे सत्य में परिणत कर दिया। जहाँ यह व्यक्तिगत दर्शन केवल असाधारणत्व की खोज हुआ—और यह प्रवृत्ति पश्चिम में भी लक्षित हुई जैसी कि हिन्दी के कुछ नये कवियों में—वहाँ उत्तम काव्य का निर्माण नहीं हुआ। जैसा कि रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है :

केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है।

किन्तु जहाँ व्यक्तिगत दर्शन ने उस पर खरी अनुभूति की छाप लगा दी वहाँ उसके देखे हुए बिम्ब और दृश्य अधिक प्राणवान् और जीवनस्पन्दित हो उठे। यह भी रामचन्द्र शुक्ल का ही कथन है कि :

वस्तुओं के रूप और आस-पास की वस्तुओं का ब्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिम्ब ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायेगा।

और यह व्यक्तिगत दर्शन या निजी अनुभूति की तीव्रता ही है जो वस्तुओं के रूप को 'स्पष्ट या स्फुट' करती है। प्रकृति के जो चित्र रीति-काल के कवि प्रस्तुत करते थे, वे भी यथातथ्य होते थे। उस काव्य की समवर्तिनी चित्र-कला में शिकार इत्यादि के जो दृश्य आँके जाते थे वे भी उतने ही रीतिसम्मत और यथातथ्य होते थे। किन्तु व्यक्तिगत अनुभूति का स्पन्दन उनमें नहीं होता था और इसी लिए उनका प्रभाव वैसा मर्मस्पर्शी नहीं होता था। बाँसों के झुरमुट पहले भी देखे गये थे, किन्तु सुमित्रानन्दन पन्त ने जब लिखा—

> बाँसों का झुरमुट—
> सन्ध्या का झुटपुट—
> हैं चहक रही चिड़ियाँ :
> टी-वी-टी-टुट्-टुट्।

तब यह एक झुरमुट बाँसों के और सब झुरमुटों से विशिष्ट हो गया, क्योंकि व्यक्तिगत दर्शन और अनुभूति के खरेपन ने उसे एक घनीभूत अद्वितीयता दे दी। इस प्रकार के उदाहरण 'निराला' और पन्त की कविताओं से अनेक दिये जा सकते हैं। परवर्ती काव्य में भी वे प्रचुरता से मिलेंगे, भले ही उनके साथ-साथ निरे असाधारणत्व के मोह के भी अनेक उदाहरण मिल जायें। जब हम दृश्य-चित्रण की परम्परा का अध्ययन इस दृष्टि से करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद ने प्रकृति को एक नया सन्दर्भ और अर्थ दिया, जो उसे न केवल उससे तत्काल पहले के खड़ी बोली के युग से अलग करता है बल्कि खड़ी बोली के उत्थान से पहले के सभी युगों से भी अलग करता है। सुमित्रानन्दन पन्त और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' इस नये पथ के शलाका-पुरुष हैं, किन्तु इसके पूर्व-संकेत श्रीधर पाठक और रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति काव्य में ही मिलने लगते हैं।

नयी कविता, जहाँ तक प्रकृति-चित्रों के अनुभूतिगत खरेपन की बात है, छायावाद से अलग दिशा में नहीं गयी है। असाधारण की खोज के उदाहरण उसमें अधिक मिलेंगे, और तन्त्र का कच्चापन अथवा भाषा का अटपटापन भी कहीं अधिक। बल्कि भाषा के विषय में एक प्रकार की अराजकता भी लक्षित हो सकती है, जिसका विस्तार 'लोक-साहित्य की ओर उन्मुखता' या 'लोक के निकटतर पहुँचने के लिए बोलियों से शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति' की ओट लेने पर भी छिप नहीं सकता। पल्लव की भूमिका में पन्त ने जिस सूक्ष्म शब्द-चेतना

का परिचय दिया था. भाषा के व्यवहार के प्रति वैसा जागरूक भाव नयी कविता के विरले कवियों में ही मिलेगा (छायावाद-युग में भी ऐसे कवि कम विरल नहीं थे; अराजकता ऐसी नहीं थी)। ये दोष उन नयी प्रवृत्तियों का ऋण पक्ष हैं जो कि नये काव्य को अनेक समानताओं के बावजूद छायावाद के काव्य से पृथक् करती हैं।

किन्तु जहाँ तक प्रकृति-वर्णन और प्रकृति-चित्रण का प्रश्न है, नयी कविता की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ सब ऋण-मूलक ही नहीं हैं, न उसका धन पक्ष छायावाद से सर्वथा एकरूप। उसकी विशिष्टता को ठीक-ठीक पहचानने के लिए हमें फिर अपने तत्सम्बन्धी प्रश्न के सही निरूपण पर बल देना होगा। प्रकृति के उपयोग में क्या अन्तर आया, यह प्रश्न भी अप्रासंगिक नहीं है; पर मूल्यों को ठीक-ठीक समझने के लिए इससे गहरे जाकर फिर यही प्रश्न पूछना चाहिए कि जिस प्रकृति की ओर कवि आकृष्ट है वह प्रकृति कैसी है?

स्पष्ट है कि आज का कवि जिस प्रकृति से परिचित होगा वह उससे भिन्न होगी जो आरण्यक कवियों को परिचित रही। यह नहीं कि वन-प्रदेश आज नहीं है, या झरने नहीं बहते, या मृग-छौने चौकड़ी नहीं भरते, या ताल-सरोवरों में पक्षी किलोलें नहीं करते। पर आज के कस्बों और शहरों में रहने वाले कवि के लिए ये सब चित्र अपवाद-रूप ही हैं। केवल इन्हीं का चित्रण करने वाला लेखक एक प्रकार का पलायनवादी ही ठहरेगा—क्योंकि वह अपने अनुभूत के मुख्यांश की उपेक्षा में एक अप्रधान अंश को तूल दे रहा होगा। इतना ही नहीं, अनेकों के लिए तो गाँव-देहात के दृश्य भी इनकी अपेक्षा कुछ ही कम अपरिचित होंगे, और उन्हें 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है!' जैसे वर्णन न केवल काव्य की दृष्टि से घटिया लगेंगे बल्कि उनकी अनुभूति भी चेष्टित और अयथार्थ लगेगी। भारत का कृषि-प्रधानत्व अब भी मिटा नहीं है और इस लिए यह प्रायः असम्भव है कि किसी भारतीय कवि ने खेत देखे ही न हों, पर 'खेत देखे हुए' होने और 'देहाती प्रकृति का अनुभव रखने' में अन्तर वैसा नगण्य नहीं है।

अनुभव-सत्यता पर—व्यक्तिगत अनुभूति के खरेपन पर जो आग्रह छायावाद ने आरम्भ किया था—काव्य के परम्परागत अभिप्रायों और ऐतिहासिक पौराणिक वृत्त को ही अपना विषय न मान कर, अनुभूति-प्रत्यक्ष और अन्तश्चेतन-संकेतित को सामने लाना छायावादी विद्रोह का एक रूप रहा—वह नयी कविता में भी वर्तमान है। पर कृतिकारत्व अब समाज के किसी विशिष्ट सुविधा-सम्पन्न अंग तक सीमित नहीं रहा है, तब यह सच्चाई का आग्रह ही कवि के क्षेत्र को मर्यादित भी करता है। जिस गिरि-वन-निर्झर के सौन्दर्य को संस्कृत का कवि किसी भी

प्रदेश में मूर्त कर सकता था, उसे यथार्थ में प्रतिष्ठित करने के लिए आज कवि पहले आपको मसूरी की सैर पर ले जाता है या नैनीताल की झील पर, या कश्मीर या दार्जिलिंग; जिस ग्राम-सुषमा का वर्णन खड़ी बोली के कवि इस शती के आरम्भ में भी इतने सहज भाव से करते थे, उसे सामने लाने से पहले कवि अपने प्रदेश अथवा अंचल की सीमा-रेखा निर्धारित करने को बाध्य होता है—क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक अंचल का ग्राम-जीवन विशिष्ट है और एक का अनुभव दूसरे को परखने की कसौटी नहीं देता—और यही कारण है कि नयी कविता के प्रकृति-वर्णन में ऐसे दृश्यों का वर्णन अधिक होने लगा है जो किसी हद तक प्रादेशिकता से परे हो सकते हैं—जो प्रकृति-क्षेत्र की 'आत्यन्तिक' घटनाएँ हैं—सूर्योदय, सूर्यास्त, बरसात की घटा, आँधी...इतना ही नहीं, उसमें गोचर अनुभवों का विपर्यय भी अधिक होता है। यथा, 'दृश्य' को 'मूर्त' करने के लिए वह जो अनुभूति-'चित्र' हमारे सम्मुख लाता है उसका आधार दृष्टि (अथवा घ्राण) न होकर स्पर्श हो जाता है—अर्थात् वह 'दृश्य' रहता ही नहीं। वसन्त के वर्णन में फूलों-कोपलों का 'स्पष्ट और स्फुट ब्यौरा' देने चलते ही एक प्रदेश अथवा क्षेत्र के साथ बँध जाना पड़ता, और यही बात गन्धों की चर्चा से होती; पर वसन्त को यदि केवल धूप की स्निग्ध गरमाई के आधार पर ही अनुभूति-प्रत्यक्ष किया जा सके तो प्रादेशिक सीमा-रेखाएँ क्यों खींची जावें ?

निःसन्देह अति कर जाने पर यही प्रवृत्ति स्वयं अपनी शत्रु हो जा सकती है और अनुभूति-सत्यता तथा व्यापकता का द्विमुख आग्रह फिर ऐसी स्थिति ला सकता है जिसमें कविता यन्त्रवत् कुशलता के साथ बने-बनाये अभिप्रायों का निरूपण, रक्त-मांस-हीन बिम्बों और प्रतीकों का सृजन हो जावे। प्रतीक ही नहीं, बिम्ब भी कितनी जल्दी प्रभावहीन, निष्प्राण अभिप्राय-भर हो जाते हैं, समकालीन साहित्य में नागफनी, कैक्टस और गुलमोहर की छीछालेदर इसका शिक्षाप्रद उदाहरण है! पर अभी तो खतरा अधिकतर सैद्धान्तिक है, और अभी नयी कविता के सम्मुख अपने को अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाने के प्रयत्न के लिए काफ़ी खुला क्षेत्र है। बल्कि अभी तो व्यापक प्रतीकों की इस खोज की ओर अल्पसंख्य कवि ही प्रवृत्त हुए हैं, और प्रामाणिकता का आग्रह आंचलिक, प्रादेशिक अथवा पारिवेशिक प्रवृत्तियों में ही प्रतिफलित हो रहा है।

नयी काव्य प्रवृत्तियों को सामने रख कर एक अर्थ में कहा जा सकता है कि प्रकृति-काव्य अब वास्तव में है ही नहीं। एक विशिष्ट अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि छायावाद का प्रकृति-काव्य अपनी सीमाओं के बावजूद अन्तिम प्रकृति-काव्य था; यदि छायावादी काव्य मर गया है तो उसके साथ ही प्रकृति-

काव्य की अन्त्येष्टि भी हो चुकी है। किन्तु ऊपर के निरूपण से यह स्पष्ट होना चाहिए कि ऐसा एक विशिष्ट अर्थ में ही कहा जा सकता है; और वह विशेषता नये प्रकृति-काव्य का शील-निरूपण करने में सहायक होती है।

छायावाद के लिए 'प्रकृति' मानवेतर यथार्थ का पर्याय नहीं थी, मानव के साथ मानव-निर्मिति को छोड़ कर शेष जगत् भी उसकी प्रकृति नहीं था। बल्कि इस शेष में जो सुन्दर था, जो सौष्ठव-सम्पन्न था, जो 'रूप'-सम्पन्न था, वही उसका लक्ष्य था : शास्त्रीय ('क्लासिकल') दृष्टि में प्रकृति की हर क्रिया और गति-विधि एक व्यापक नियम अथवा ऋत की साक्षी है; छायावाद की दृष्टि ऋत को अमान्य नहीं करती थी, पर उसका आग्रह रूप-सौष्ठव पर था। नयी कविता में रूप का आग्रह कम नहीं है, पर उसने सौष्ठव वाले पक्ष को छोड़ दिया है, तद्वत्ता पर ही वह बल देती है। 'व्यवस्थित संसार' के स्थान में 'सुन्दर संसार' की प्रतिष्ठा हुई थी; अब उसके स्थान में 'तद्वत् संसार' ही सामने रखा जाता है। इतना ही नहीं, मानव-निर्मिति को भी उससे अलग नहीं किया जाता—क्योंकि ऐसी असम्पृक्त प्रकृति अब दीखती ही कहाँ है!

इस प्रकार प्रकृति-वर्णन का वृत्त कालिदास के समय से पूरा घूम गया है। कालिदास 'प्रकृति के चौखटे में मानवी भावनाओं का चित्रण' करते थे; आज का कवि 'समकालीन मानवीय संवेदना के चौखटे में प्रकृति' को बैठाता है। और, क्योंकि समकालीन मानवीय संवेदना बहुत दूर तक विज्ञान की आधुनिक प्रवृत्ति से मर्यादित हुई है, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि आज का कवि प्रकृति को विज्ञान की अधुनातन अवस्था के चौखटे में भी बैठाता है। ऋत का स्थान वैज्ञानिक शोध ने ले लिया है। किन्तु ऋत सनातन और आत्यन्तिक था, वैज्ञानिक शोध के दिङ्मान बदलते हैं....फलतः 'प्रकृति का सान्निध्य' नये कवि को पहले का-सा आश्वस्त भाव नहीं देता, उसकी आस्थाओं को पुष्ट नहीं करता—इसके लिए वह नये प्रतीकों की खोज करता है। पर प्रतीकों की रचना के—उनकी अर्थवत्ता के विकास और ह्रास के—अन्वेषण का क्षेत्र, चेतन और अवचेतन के सम्बन्धों का क्षेत्र है; जो जोखम-भरा भी है और केवल प्रकृति-काव्य के रूप-परिवर्तन के वर्णन के लिए अनिवार्य भी नहीं है, अतः उसमें भटकना असामयिक होगा।

किन्तु प्रस्तुत संकलन-ग्रन्थ के प्रणयन की मूल प्रेरणा को ध्यान में रखते हुए कदाचित् इतना कहना उचित होगा कि यदि इस विशेष अर्थ में छायावाद वस्तुतः अन्तिम प्रकृति-काव्य था, तो सुमित्रानन्दन पन्त स्वभावतः युग-कवि रहे। अथवा —ऐसा श्लेष इस प्रसंग में क्षन्तव्य हो तो—यह कहा जाय कि पन्त और

'निराला' प्रकृति-काव्य के अन्तिम युग के युग-कवि रहे। हमारे सौभाग्य ने दोनों ही कवि हमारे मध्य में रहे हैं, यद्यपि छायावाद का युग बीत चुका माना जाता है। किन्तु युग-कवि का युग को अतिक्रान्त करना ही स्वाभाविक है। सुमित्रानन्दन पन्त की अद्यतन रचनाएँ उन प्रकृतियों के प्रतिकूल नहीं हैं जिनकी हम उनकी रचनाओं से परवर्ती काल के लिए उद्भावना करते, यह उनकी दृष्टि के खरेपन का ही प्रमाण है।

(तार सप्तक : प्रथम संस्करण की भूमिका)

विवृति और पुरावृत्ति

'तार सप्तक' में सात युवक कवियों (अथवा कवि-युवकों) की रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ कैसे एक जगह संग्रहीत हुईं, इसका एक इतिहास है। कविता या संग्रह के विषय में कुछ कहने से पहले उस इतिहास के विषय में जान लेना उपयोगी होगा।

दो वर्ष हुए जब दिल्ली में 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' की आयोजना की गयी थी, उस समय कुछ उत्साही बन्धुओं ने विचार किया कि छोटे-छोटे फुटकर संग्रह छापने के बजाय एक संयुक्त संग्रह छापा जाये, क्योंकि छोटे-छोटे संग्रहों की पहले तो छपाई एक समस्या होती है, फिर छप कर भी वे सागर में एक बूँद से खो जाते हैं। इन पंक्तियों का लेखक 'योजना-विश्वासी' के नाम से पहले ही बदनाम था, अतः यह नयी योजना तत्काल उसके पास पहुँची, और उसने अपने नाम ('बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा!') के अनुसार उसे स्वीकार कर लिया।

आरम्भ में योजना का क्या रूप था, और किन-किन कवियों की बात उस समय सोची गयी थी, यह अब प्रसंग की बात नहीं रही। किन्तु यह सिद्धान्त रूप से मान लिया गया था कि योजना का मूल आधार सहयोग होगा, अर्थात् उसमें भाग लेने वाला प्रत्येक कवि पुस्तक का साझी होगा। चन्दा करके इतना धन उगाहा जायेगा कि कागज़ का मूल्य चुकाया जा सके; छपाई के लिए किसी प्रेस का सहयोग माँगा जायेगा जो बिक्री की प्रतीक्षा करे या चुकाई में छपी हुई प्रतियाँ ले ले। दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।

इस आधार पर संग्रह को व्यावहारिक रूप देने का दायित्व मेरे सिर पर डाला गया।

'तार सप्तक' का वास्तविक इतिहास यहीं से आरम्भ होता है; किन्तु जब कह चुका हूँ कि इसकी बुनियाद सहयोग पर खड़ी हुई तब उसकी कमी की शिकायत करना उचित नहीं होगा। वह हम लोगों की आपस की बात है—पाठक के लिए सहयोग का इतना प्रमाण काफ़ी है कि पुस्तक छप कर उसके

सामने है !

अनेक परिवर्तनों के बाद जिन सात कवियों की रचनाएँ देने का निश्चय हुआ, उनसे हस्तलिपियाँ प्राप्त करते-करते साल भर बीत गया; फिर पुस्तक के प्रेस में दिये जाने पर प्रेस में गड़बड़ हुई और मुद्रक महोदय कागज़ भी हज़म कर गये। साथ ही आधी पाण्डुलिपि रेलगाड़ी में खो गयी, और संकोचवश इसकी सूचना भी किसी को नहीं दी जा सकी।

कुछ महीनों बाद जब कागज़ खरीदने के साधन फिर जुटने की आशा हुई तब फिर हस्तलिपियों का संग्रह करने के प्रयत्न आरम्भ हुए, और छह महीनों की दौड़-धूप के बाद पुस्तक फिर प्रेस में गयी। अब छप कर वह पाठक के सामने आ रही है। इसकी बिक्री से जो आमदनी होगी, वह पुनः इसी प्रकार के किसी प्रकाशन में लगायी जायेगी, यही सहयोग-योजना का उद्देश्य था—वह प्रकाशन चाहे काव्य हो, चाहे और कुछ। पुस्तक का दाम भी इतना रखा गया है कि बिक्री से लगभग उतनी ही आय हो जितनी कि पूँजी उसमें लगी है, ताकि दूसरे ग्रन्थ की व्यवस्था हो सके।

यह तो हुआ प्रकाशन का इतिहास। अब कुछ उसके अन्तरंग के विषय में भी कहूँ।

'तार सप्तक' में सात कवि संगृहीत हैं। सातों एक दूसरे के परिचित हैं—बिना इसके इस ढंग का सहयोग कैसे होता? किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाये कि वे कविता के किसी एक 'स्कूल' के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी। उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्यवस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकार नहीं करते जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता, इत्यादि। वे सब परस्पर एक दूसरे पर, एक दूसरे की रुचियों-कृतियों और आशाओं-विश्वासों पर, एक दूसरे की जीवन-परिपाटी पर, और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं! 'तार सप्तक' का यह संस्करण बहुत बड़ा नहीं है, अतः आशा

की जा सकती है कि उसके पाठक सभी न्यूनाधिक मात्रा में एकाधिक कवि से परिचित होंगे; तब वे जानेंगे कि 'तार सप्तक' किसी गुट का प्रकाशन नहीं है क्योंकि संगृहीत सात कवियों के साढ़े-सात अलग-अलग गुट हैं, उनके साढ़े-सात व्यक्तित्व—साढ़े-सात यों कि एक को अपने कवि-व्यक्तित्व के ऊपर संकलनकर्ता का आधा छद्म-व्यक्तित्व और लादना पड़ा है !

ऐसा होते हुए भी वे एकत्र संगृहीत हैं, इसका कारण पहले बताया जा चुका है। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढ़ि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले। वैसा दावा यहाँ कदापि नहीं; दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं। ठीक यह सप्तक क्यों एकत्र हुआ, इसका उत्तर यह है कि परिचिति और सहकार-योजना ने इसे ही सम्भव बनाया। इस नाते तीन-चार और नाम भी सामने आये थे, पर उनमें वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था, यद्यपि संग्रह पर उनका भी नाम होने से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही, घटती नहीं। संग्रहीत कवियों में से ऐसा कोई भी नहीं है जिसकी कविता केवल उसके नाम के सहारे खड़ी हो सके। सभी इसके लिए तैयार हैं कि अभी कसौटी हो, क्योंकि सभी अभी उस परम तत्त्व की शोध में ही लगे हैं जिसे पा लेने पर कसौटी की ज़रूरत नहीं रहती, बल्कि जो कसौटी की ही कसौटी हो जाता है।

संग्रह के बहिरंग के बारे में भी कुछ कहना आवश्यक है। इधर कविता प्रायः चारों ओर बड़े-बड़े हाशिये देकर सुन्दर सजावट के साथ छपती रही है। अगर कविता को शब्दों की मीनाकारी ही मान लिया जाये तब यह संगत भी है। 'तार सप्तक' की कविता वैसी जड़ाऊ कविता नहीं है; वह वैसी हो भी नहीं सकती। ज़माना था जब तलवारें और तोपें भी जड़ाऊ होती थीं; पर अब गहने भी धातु को साँचों में ढाल कर बनाये जाते हैं और हीरे भी तप्त धातु की सिकुड़न के दबाव से बँधे हुए कणों से ! 'तार सप्तक' में रूप-सज्जा को गौण मान कर अधिक से अधिक सामग्री देने का उद्योग किया गया। इसे पाठक के प्रति ही नहीं, लेखक के प्रति भी कर्तव्य समझा गया है, क्योंकि जो कोई भी जनता के सामने आता है वह अन्ततः दावेदार है, और जब दावेदार है तो अपने पक्ष के लिए उसे पर्याप्त सामग्री लेकर आना चाहिए। योजना थी कि प्रत्येक कवि साधारण छापे का एक फ़ार्म देगा (अथवा लेगा); इस बड़े आकार में जितनी सामग्री प्रत्येक की है वह एक फ़ार्म से कम नहीं है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए

मानना पड़ेगा कि 'तार सप्तक' में उतने ही दामों की तीन पुस्तकों की सामग्री सस्ते और सुलभ रूप में दी जा रही है।

और यदि पाठक सोचे कि ऐसा प्रचार प्रकाशकोचित है, सम्पादकोचित नहीं, तो उसका उत्तर स्पष्ट है कि इस सहयोगी योजना में 'तार सप्तक' के लेखक ही उसके प्रकाशक और सम्पादक भी हैं, और अपने-अपने जीवनीकार भी और प्रवक्ता भी। और (यह धृष्टता नहीं है, केवल अपने कर्म का फल भोगने की तत्परता है!) वे सभी इसके लिए भी तैयार हैं कि 'तार सप्तक' के पाठक वे ही रह जायें! क्योंकि जो प्रयोग करता है, उसे अन्वेषित विषय का मोह नहीं होना चाहिए।

कवियों का अनुक्रम किसी हद तक आकस्मिक है; जहाँ वह इच्छित है वहाँ उसका उद्देश्य यही रहा है कि कुल सामग्री को सर्वाधिक प्रभावोत्पादक ढंग से उपस्थित किया जाये। संकलनकर्ता अन्त में आता है क्योंकि वह संकलनकर्ता है। अनुक्रम मात्र से कवियों के पद-गौरव के बारे में कोई परिणाम निकालना, या उस विषय में संकलनकर्ता की सम्मति की खोज लगाना, मूर्खता होगी।

● ●

(तार सप्तक : दूसरे संस्करण की भूमिका)

परिदृष्टि : प्रतिदृष्टि

'तार सप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ था। दूसरे संस्करण की भूमिका सन् १९६३ में लिखी जा रही है। बीस वर्ष की एक पीढ़ी मानी जाती है। 'वयमेव याताः' के अनिवार्य नियम के अधीन 'सप्तक' के सहयोगी, जो १९४३ के प्रयोगी थे, सन् १९६३ के सन्दर्भ हो गये हैं। दिक्कालजीवी को इसे नियति मान कर ग्रहण करना चाहिए, पर प्रयोगशील कवि के बुनियादी पैंतरे में ही कुछ ऐसी बात थी कि अपने को इस नये रूप में स्वीकार करना उसके लिए कठिन हो। बूढ़े सभी होते हैं, लेकिन बुढ़ापा किस पर कैसा बैठता है यह इस पर निर्भर रहता है कि उसका अपने जीवन से, अपने अतीत और वर्तमान से (और अपने भविष्य से भी क्यों नहीं?) कैसा सम्बन्ध रहता है। हमारी धारणा है कि 'तार सप्तक' ने जिन विविध नयी प्रवृत्तियों को संकेतित किया था उनमें एक यह भी रही कि कवि का युग-सम्बन्ध सदा के लिए बदल गया था। इस बात को ठीक ऐसे ही सब कवियों ने सचेत रूप से अनुभव किया था, यह कहना झूठ होगा; बल्कि अधिक सम्भव यही है कि एक स्पष्ट, सुचिन्तित विचार के रूप में यह बात किसी भी कवि के सामने न आयी हो। लेकिन इतना असन्दिग्ध है कि सभी कवि अपने को अपने समय से एक नये ढंग से बाँध रहे थे। 'उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा' वाला पैंतरा न किसी कवि के लिए सम्भव रहा था, न किसी को स्वीकार्य था: सभी सबसे पहले समाजजीवी मानव प्राणी थे और 'समानधर्मा' का अर्थ उनके लिए 'कवि-धर्मा' से पहले मानवधर्मा था। यह भेद किया जा सकता है कि कुछ के लिए आधुनिकधर्मा होने का आग्रह पहले था और अपनी मानवधर्मिता को वह आधुनिकता से अलग नहीं देख सकते थे, और दूसरे कुछ ऐसे थे जिनके लिए आधुनिकता मानवधर्मिता का एक आनुषंगिक पहलू अथवा परिणाम था।

'सप्तक' के कवियों का विकास अपनी-अपनी अलग दिशा में हुआ है। सर्जनशील प्रतिभा का धर्म है कि वह व्यक्तित्व ओढ़ती है। सृष्टियाँ जितनी भिन्न होती हैं स्रष्टा उससे कुछ कम विशिष्ट नहीं होते, बल्कि उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताएँ ही उनकी रचना में प्रतिबिम्बित होती हैं। यह बात उन पर भी लागू होती है जिनकी रचना प्रबल वैचारिक आग्रह लिये रहती है जब तक कि

वह रचना है, निरा वैचारिक आग्रह नहीं है। कोरे वैचारिक आग्रह में अवश्य ऐसी एकरूपता हो सकती है कि उसमें व्यक्तित्वों को पहचानना कठिन हो जाये। जैसे शिल्पाश्रयी काव्य पर रीति हावी हो सकती है, वैसे ही मताग्रह पर भी रीति हावी हो सकती है। 'सप्तक' के कवियों के साथ ऐसा नहीं हुआ, सम्पादक की दृष्टि में यह उनकी अलग-अलग सफलता (या कि स्वस्थता) का प्रमाण है। स्वयं कवियों की राय इससे भिन्न भी हो सकती है—वे जानें।

इन बीस वर्षों में सातों कवियों की परस्पर अवस्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया है। तब की सम्भावनाएँ अब की उपलब्धियों में परिणत हो गयी हैं—सभी बोधिसत्त्व अब बुद्ध हो गये हैं। पर इन सात नये ब्याजे बुद्धों के परस्पर सम्बन्धों में विशेष अन्तर नहीं आया है। अब भी उनके बारे में उतनी ही सचाई के साथ कहा जा सकता है कि 'उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म, राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है।' और यह बात भी उतनी ही सच है कि 'वे सब परस्पर एक दूसरे पर, दूसरे की रुचियों, कृतियों और आशाओं-विश्वासों पर और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।' (सिवा इसके कि इन पंक्तियों को लिखते समय सम्पादक को जहाँ तक ज्ञान है कुत्ता किसी कवि के पास नहीं है, और हँसी की पहले की सहजता में कभी कुछ व्यंग्य या विद्रूप का भाव भी आ जाता होगा!)।

ऐसी परिस्थिति में ऐसा बहुत कम है जो निरपवाद रूप से सभी कवियों के बारे में कहा जा सकता है। ये मनके इतने भिन्न हैं कि सबको किसी एक सूत्र में गूँथने का प्रयास व्यर्थ ही होगा। कदाचित् एक बात—मात्रा-भेद की गुंजाइश रख कर—सबके बारे में कही जा सकती है। सभी चकित हैं कि 'तार सप्तक' ने समकालीन काव्य-इतिहास में अपना स्थान बना लिया है। प्रायः सभी ने यह स्वीकार भी कर लिया है। अपने कार्य का या प्रगति का, मूल्यांकन जो भी जैसा भी कर रहा हो, जिसकी वर्तमान प्रवृत्ति जो हो, सभी ने यह स्थिति लगभग स्वीकार कर ली है कि उन्हें नगर के चौक में खम्भे से, या मील के पत्थर से, बाँध कर नमूना बनाया जाये : 'यह देखो और इससे शिक्षा ग्रहण करो!' कम से कम एक कवि का मुखर भाव ऐसा है, और कदाचित् दूसरों के मन में भी अव्यक्त रूप से हो, कि अच्छा होता अगर मान लिया जा सकता कि वह 'तार सप्तक' में संग्रहीत था ही नहीं। इतिहास अपने चरित्रों या कठपुतलों को इसकी स्वतन्त्रता नहीं देता कि वे स्वयं अपने को 'न हुआ' मान लें। फिर भी मन

का ऐसा भाव लक्ष्य करने लायक और नहीं तो इसलिए भी है कि वह परवर्ती साहित्य पर एक मन्तव्य भी तो है ही—समूचे साहित्य पर नहीं तो कम से कम 'सप्तक' के अन्य कवियों की कृतियों पर (और उससे प्रभावित दूसरे लेखन पर) तो अवश्य ही। असम्भव नहीं कि संकलित कवियों को अब इस प्रकार एक दूसरे से सम्पृक्त होकर लोगों के सामने उपस्थित होना कुछ अजब या असमंजस-कारी लगता हो। लेकिन ऐसा है भी, तो उस असमंजस के बावजूद वे इस सम्पर्क को सह लेने को तैयार हो गये हैं इसे सम्पादक अपना सौभाग्य मानता है। अपनी ओर से वह यह भी कहना चाहता है कि स्वयं उसे इस सम्पृक्ति से कोई संकोच नहीं है। परवर्ती कुछ प्रवृत्तियाँ उसे हीन अथवा आपत्तिजनक भी जान पड़ती हैं, और निःसन्देह इनमें से कुछ का सूत्र 'तार सप्तक' से जोड़ा जा सकता है या जोड़ दिया जायेगा; तथापि सम्पादक की धारणा है कि 'तार सप्तक' ने अपने प्रकाशन का औचित्य प्रमाणित कर लिया। उसका पुनर्मुद्रण केवल एक ऐतिहासिक दस्तावेज को उपलभ्य बनाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए भी संगत है कि परवर्ती काव्य-प्रगति को समझने के लिए इसका पढ़ना आवश्यक है। इन सात कवियों का एकत्रित होना अगर केवल संयोग भी था तो भी वह ऐसा ऐतिहासिक संयोग हुआ जिसका प्रभाव परवर्ती काव्य-विकास में दूर तक व्याप्त है।

इसी समकालीन अर्थवत्ता की पुष्टि के लिए प्रस्तुत संस्करण को केवल पुनर्मुद्रण तक सीमित न रख कर नया संवर्द्धित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। 'तार सप्तक' के ऐतिहासिक रूप की रक्षा करते हुए जहाँ पहले की सब सामग्री—काव्य और वक्तव्य—अविकल रूप से दी जा रही है, वहाँ प्रत्येक कवि से उसकी परवर्ती प्रवृत्तियों पर भी कुछ विचार प्राप्त किये गये हैं। सम्पादक का विश्वास है कि यह प्रत्यवलोकन प्रत्येक कवि के कृतित्व को समझने के लिए उपयोगी होगा और साथ ही 'तार सप्तक' के पहले प्रकाशन से अब तक के काव्य-विकास पर भी नया प्रकाश डालेगा। एक पीढ़ी का अन्तराल पार करने के लिए प्रत्येक कवि की कम से कम एक-एक नयी रचना भी दे दी गयी है। इसी नयी सामग्री को प्राप्त करने के प्रयत्न में 'सप्तक' इतने वर्षों तक अनुपलभ्य रहा : जिनके देर करने का डर था उनसे सहयोग तुरत मिला; जिनकी अनुकूलता का भरोसा था उन्होंने ही सबसे देर की—आलस्य या उदासीनता के कारण भी, असमंजस के कारण भी, और शायद अनभिव्यक्त आक्रोश के कारण भी : 'जो पास रहे वे ही तो सबसे दूर रहे।' सम्पादक ने वह हठधर्मिता (बल्कि बेहयाई !) ओढ़ी होती जो पत्रकारिता (और सम्पादन) धर्म का अंग है, तो 'सप्तक' का पुनर्मुद्रण कभी न

हो पाता : यह जहाँ अपने परिश्रम का दावा है; वहाँ अपनी हीनतर स्थिति का स्वीकार भी है।

पुस्तक के बहिरंग के बारे में अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं है। पहले संस्करण में जो आदर्शवादिता झलकती थी, उसकी छाया कम से कम सम्पादक पर अब भी है, किन्तु काव्य-प्रकाशन के व्यावहारिक पहलू पर नया विचार करने के लिए अनुभव ने सभी को बाध्य किया है। पहले संस्करण से 'उपलब्धि' के नाम पर कवियों को केवल पुस्तक की कुछ प्रतियाँ ही मिलीं; बाकी जो कुछ उपलब्धि हुई वह भौतिक नहीं थी! 'सम्भाव्य आय को इसी प्रकार के दूसरे संकलन में लगाने' का विचार भी उत्तम होते हुए भी वर्तमान परिस्थिति में अनावश्यक हो गया है। रूप-सज्जा के बारे में भी स्वीकार करना होगा कि नये संस्करण पर परवर्ती 'सप्तकों' का प्रभाव पड़ा है। जो अतीत की अनुरूपता के प्रति विद्रोह करते हैं, वे प्रायः पाते हैं कि उन्होंने भावी की अनुरूपता पहले से स्वीकार कर ली थी! विद्रोह की ऐसी विडम्बना कर सकना इतिहास के उन बुनियादी अधिकारों में से है जिसका वह बड़े निर्ममत्व से उपयोग करता है। नये संस्करण से उपलब्धि कुछ तो होगी, ऐसी आशा की जा सकती है। उसका उपयोग कौन कैसे करेगा यह योजनाधीन न होकर कवियों के विकल्प पर छोड़ दिया गया। वे चाहें तो उसे 'तार सप्तक' का प्रभाव मिटाने में या उसके संसर्ग की छाप धो डालने में भी लगा सकते हैं!

• •

अर्थ-प्रतिपत्ति और अर्थ-सम्प्रेषण

'तार सप्तक' का प्रकाशन जब हुआ, तब मन में यह विचार ज़रूर उठा था कि इसी प्रकार की पुस्तकों का एक अनुक्रम प्रकाशित किया जा सकता है, जिसमें क्रमशः नये आने वाले प्रतिभाशाली कवियों की कविताएँ संगृहीत की जाती रहें—ऐसे कवियों की जिनमें इतनी प्रतिभा तो है कि उनकी संगृहीत रचनाएँ प्रकाशित हों, लेकिन जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उनके अलग-अलग संग्रह निकाल दे। 'तार सप्तक' का आयोजन भी मूलतः इसी भावना से हुआ था, यद्यपि इसमें साथ ही यह आदर्शवादी आरोप भी था कि संग्रह का प्रकाशन सहकार-मूलक हो। [जिन पाठकों ने यह संग्रह देखा है वे शायद स्मरण करेंगे कि इस आदर्श की रक्षा तब भी नहीं हो सकी थी; 'दूसरा सप्तक' में तो उसे निबाहने का यत्न ही व्यर्थ मान लिया गया था।]

तो 'तार सप्तक' के कवि ऐसे कवि थे, जिनके बारे में कम से कम सम्पादक की यह धारणा थी कि उनमें 'कुछ' है, और वे पाठक के सामने लाये जाने के पात्र हैं; यद्यपि वे हैं 'नये' ही, केवल 'कवियशःप्रार्थी' ही और इसलिए काव्यक्षेत्र के अन्वेषी ही। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनमें से सभी अनन्तर काव्य-क्षेत्र में आगे बढ़े—कम से कम एक ने तो न केवल ऐलान कर के कविता छोड़ दी बल्कि क्रमशः कविता के ऐसे आलोचक हो गये कि उसे साहित्य-क्षेत्र से ही खदेड़ देने पर तुल गये; और बाकी में से दो-एक और भी कविता से उपराम से हैं। फिर भी, हम आज भी समझते हैं कि 'तार सप्तक' का प्रकाशन—प्रकाशन ही नहीं, उसका आयोजन, संकलन, सम्पादन—न केवल समयोचित और उपयोगी था बल्कि उसे हिन्दी काव्य-जगत् की एक महत्त्वपूर्ण घटना भी कहा जा सकता है; और आलोचकों द्वारा उसकी जितनी चर्चा हुई है उसे 'सप्तक' के प्रभाव का सूचक मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा।

'दूसरा सप्तक' में फिर सात नये कवियों की संगृहीत रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं। सात में से कोई भी हिन्दी-जगत् का अपरिचित हो, ऐसा नहीं है, लेकिन किसी का कोई स्वतन्त्र कविता-संग्रह नहीं छपा है, अतः यह कहा जा सकता है कि प्रकाशित कविता-ग्रन्थों के जगत् में ये कवि इसी पुस्तक के साथ प्रवेश कर रहे हैं। और हमारा विश्वास है कि हिन्दी में सम्प्रति जो काव्यसंग्रह

छपते हैं; उनमें कम ऐसे होंगे जिनमें अच्छी कविताओं की इतनी बड़ी संख्या एकत्र मिले जितनी 'दूसरा सप्तक' में पायी जायगी।

क्या ये रचनाएँ प्रयोगवादी हैं? क्या ये कवि किसी एक दल के हैं, किसी मतवाद—राजनीतिक या साहित्यिक—के पोषक हैं? 'प्रयोगवाद' नाम के नये मतवाद के प्रवर्त्तन का दायित्व क्योंकि अनचाहे और अकारण ही हमारे मत्थे मढ़ दिया गया है, इसलिए हमारा इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कहना आवश्यक है, और नहीं तो इसी लिए कि 'दूसरा सप्तक' के संगृहीत कवि आरम्भ से ही किसी पूर्वग्रह के शिकार न बनें, अपने कृतित्व के आधार पर ही परखे जायें।

प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है; कविता भी अपने-आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना। क्योंकि यह आग्रह तो हमारा है कि जिस प्रकार कविता-रूपी माध्यम को बरतते हुए आत्माभिव्यक्ति चाहने वाले कवि को अधिकार है कि उस माध्यम का अपनी आवश्यकता के अनुरूप श्रेष्ठ उपयोग करे, उसी प्रकार आत्म-सत्य के अन्वेषी कवि को, अन्वेषण के प्रयोग-रूपी माध्यम का उपयोग करते समय उस माध्यम की विशेषताओं को परखने का भी अधिकार है। इतना ही नहीं, बिना माध्यम की विशेषता, उसकी शक्ति और उसकी सीमा को परखे और आत्मसात् किये उस माध्यम का श्रेष्ठ उपयोग हो ही नहीं सकता। जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा, कम से कम कवि के लिए, कोई ऐसी पोटली बाँध कर अलग रखी हुई चीज़ नहीं है जिसे वह उठा कर सिर पर लाद ले और चल निकले। (कुछ आलोचकों के लिए भले ही वैसा हो।) परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजा कर, तोड़-मरोड़ कर, देखकर आत्मसात् नहीं कर लेता; जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रख कर उसका निर्वाह करना अनावश्यक न हो जाय। अगर कवि की आत्माभिव्यक्ति एक संस्कार-विशेष के वेष्टन में ही सहज सामने आती है, तभी वह संस्कार देने वाली परम्परा कवि की परम्परा है, नहीं तो—वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भंडार है जिससे अपरिचित भी रहा जा सकता है। अपरिचित ही रहा जाय, ऐसा आग्रह हमारा नहीं है—हम पर तो बौद्धिकता का आरोप लगाया जाता है!—पर उससे अपरिचित रह कर भी परम्परा से अवगत हुआ जा सकता है और कविता की जा सकती है।

तो प्रयोग अपने-आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है। और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है। यह इतनी सरल और सीधी बात है कि इससे इनकार करना चाहना कोरा दुराग्रह है; ऐसे दुराग्रही अनेक हैं और उस वर्ग में हैं जो साहित्य-शिक्षण का दायित्व लिये है, इससे हमें आतंकित न होना चाहिए। जिस वर्ग की घोषित नीति यह है कि उसके द्वारा ग्राह्य होने के लिए कोई वस्तु या रचना तीन सौ वर्ष पुरानी तो होनी ही चाहिए, उस वर्ग से आज की कविता पर बहस करके क्या लाभ? उससे तो तीन सौ वर्ष बाद बात करना अलम् होगा—और तब कदाचित् वह अनावश्यक होगा क्योंकि आज का प्रयोग तब की परम्परा हो गयी होगी—उनकी परम्परा! छायावाद जब एक जीवित अभिव्यक्ति था, तब वह जिन्हें अग्राह्य था, आज वे उसके समर्थक और प्रतिपादक हैं जब वह मृत हो चुका; आज वे उसे उनसे बचाना चाहते हैं जिनमें आज का जीवित सत्य अभिव्यक्ति खोज रहा है, भले ही अटपटे शब्दों में।

प्रयोग का हमारा कोई वाद नहीं है, इसको और भी स्पष्ट करने के लिए एक बात हम और कहें। प्रयोग निरन्तर होते आये हैं, और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ़ सका है। जो कहता है कि मैंने जीवन भर कोई प्रयोग नहीं किया, वह वास्तव में यही कहता है कि मैंने जीवन भर कोई रचनात्मक कार्य करना नहीं चाहा; ऐसा व्यक्ति अगर सच कहता है तो यही पाया जायगा कि उसकी 'कविता' कविता नहीं है, उसमें रचनात्मकता नहीं है; वह कला नहीं, शिल्प है, हस्तलाघव है। जो उसी को कविता मानना चाहते हैं, उनसे हमारा झगड़ा नहीं है। झगड़ा हो ही नहीं सकता। क्योंकि हमारी भाषाएँ भिन्न हैं, और झगड़े के लिए भी साधारणीकरण अनिवार्य है! लेकिन इस आग्रह पर स्थिर रहते हुए भी हमें यह भी कहना चाहिए कि केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो। 'हमने सैकड़ों प्रयोग किये हैं' यह दावा लेकर हम पाठक के सामने नहीं जा सकते, जब तक हम यह न कह सकते हों कि 'देखिए, हमने प्रयोग द्वारा यह पाया है'। प्रयोगों का महत्त्व कर्त्ता के लिए

चाहे जितना हो, सत्य की खोज, लगन, उसमें चाहे जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती को सामने रख कर ही—'इस मोती को पाने में इतना परिश्रम लगा'—बिना मोती पाये उसका कोई महत्त्व नहीं है।

इस प्रकार 'प्रयोग' का 'वाद' और भी बेमानी हो जाता है। जो सत्य को शोध में प्रयोग करता है वह खूब जानता है कि उसके प्रयोग उसके निकट जीवन-मरण का ही प्रश्न क्यों न हों, दूसरों के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व होगा शोध के परिणाम का। और वह यह भी जानता है कि ऐसा ही ठीक है। स्वयं वह भी उस सत्य को अधिक महत्त्व देता है, नहीं तो उस शोध में इतना संलग्न न होता।

हम समझते हैं कि इस भूमिका के बाद उन आक्षेपों का उत्तर देना अनावश्यक हो जाता है जो हमें 'प्रयोगवादी' कह कर हम पर किये गये हैं। कुछ आक्षेपों को पढ़ कर तो बड़ा क्लेश होता है, इसलिए नहीं कि उनमें कुछ तत्त्व है, इसलिए कि उनमें तर्क-परिपाटी की ऐसी अद्भुत विकृति दीखती है, जो आलोचक से अपेक्षित नहीं होती। आलोचक में पूर्वग्रह हो सकता है; पर कम से कम तर्क-पद्धति का ज्ञान उसे होगा, और उसे वह विकृत नहीं करेगा, ऐसी आशा उससे अवश्य की जाती है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध तर्क-विकृति का आश्चर्यजनक उदाहरण है। इस प्रकार के आक्षेपों का उत्तर देना एक निष्फल प्रयोग होगा; और हम कह चुके कि निष्फल प्रयोगों का कोई सार्वजनिक महत्त्व नहीं है। लेकिन साधारणीकरण के प्रश्न पर कुछ विचार कर लेना कदाचित् उचित होगा।

'तार सप्तक' के कवियों पर यह आक्षेप किया गया कि वे साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं मानते। यह दोहरा अन्याय है। क्योंकि वे न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं। यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गये हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले—प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं; और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा

असर पड़ा है। निरे 'तथ्य' और 'सत्य' में—या कह लीजिए 'वस्तु-सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' में—यह भेद है कि 'सत्य' वह 'तथ्य' है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है; बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है—वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं—और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। कहना होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं, वे उस वास्तविकता से टूट गये हैं जो आज की वास्तविकता है। उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं जब कि हम उससे वैसा सम्बन्ध स्थापित करके उसे आन्तरिक सत्य बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नयी समस्याएँ आरम्भ होती हैं। प्राचीन काल में, जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था और अधिक संहृत था, जब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग-अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पठित या शिक्षित था, सभी ज्ञानों का पारंगत नहीं तो परिचित था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी। तब भाषा का केवल एक मुहावरा था। या कह लीजिए कि शिक्षित वर्ग का एक मुहावरा था, जन का एक और। एक संस्कृत था, एक प्राकृत। लेकिन आज क्या वह स्थिति है? विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गये हैं। भाषा आज भी प्रेषण का माध्यम है; यह कोई नहीं कहता कि उसने अपनी सार्वजनिकता की प्रवृत्ति छोड़ दी है या छोड़ दे। लेकिन वह अब प्रवृत्ति है, तथ्य नहीं। ऐसी कोई भाषा नहीं है जो सब समझते हों, सब बोलते हों। अंग्रेज़ी है, अंग्रेज़ी के बड़े-बड़े कोश हैं जो शब्दों के सर्व-सम्मत अर्थ देते हैं, पर गणितज्ञ की अंग्रेज़ी दूसरी है, अर्थ-शास्त्री की दूसरी और उपन्यासकार की दूसरी। ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं, सत्य : अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उससे बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड़ दे; सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे—यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे—अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले; या फिर वह बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इसलिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रह कर उससे बाहर आकर राह खोजने की जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा—अर्थात् एक दूसरे अन्तर्विरोध

की शरण लेगा ! यदि यह निरूपण ठीक है, तो प्रश्न इतना ही है कि दोनों अन्त-विरोधों में से कौन सा अधिक ग्राह्य—या कम अग्राह्य—है। हम इतना ही कहेंगे कि जो दूसरा पथ चुनता है उसे कम से कम एक अधिक उदार, अधिक व्यापक दृष्टि से देखने या देखना चाहने का श्रेय तो मिलना चाहिए—उसके साहस को आप साहसिकता कह लीजिए पर उसकी नीयत को बुरा आप कैसे कह सकते हैं ?

ज़रा भाषा के मूल प्रश्न पर—शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध पर—ध्यान दीजिए। शब्द में अर्थ कहाँ से आता है, क्यों और कैसे बदलता है, अधिक या कम व्याप्ति पाता है ? शब्दार्थ-विज्ञान का विवेचन यहाँ अनावश्यक है; एक अत्यन्त छोटा उदाहरण लिया जाय। हम कहते हैं 'गुलाबी', और उससे एक विशेष रंग का बोध हमें होता है। निस्सन्देह इसका अभिप्राय है गुलाब के फूल के रंग जैसा रंग; यह उपमा उसमें निहित है। आरम्भ में 'गुलाबी' शब्द से उसे उस रंग तक पहुँचने के लिए गुलाब के फूल की मध्यस्थता अनिवार्य रही होगी; उपमा के माध्यम से ही अर्थ लाभ होता रहा होगा। उस समय यह प्रयोग चमत्कारिक रहा होगा। पर अब वैसा नहीं है। अब हम शब्द से सीधे रंग तक पहुँच जाते हैं; फूल की मध्यस्थता अनावश्यक है। अब उस अर्थ का चमत्कार मर गया है, अब वह अभिधेय हो गया है। और अब इससे भी अर्थ में कोई बाधा नहीं होती कि हम जानते हैं, गुलाब कई रंगों का होता है—सफ़ेद, पीला, लाल, यहाँ तक कि लगभग काला तक। यह क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है और भाषा के विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है—वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि—उस रूप में—कवि के काम के नहीं रहते। 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है'। कालिदास ने जब 'रघुवंश' के आरम्भ में कहा था :

वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ

तब इस बात को उन्होंने समझा था और इसी लिए वाक् में अर्थ की प्रतिपत्ति की प्रार्थना की थी। जो अभिधेय है, जो अर्थ वाक् में है ही, उसकी प्रतिपत्ति की प्रार्थना कवि नहीं करता ! अभिधेयार्थयुक्त शब्द तो वह मिट्टी, वह कच्चा माल है जिससे वह रचना करता है; ऐसी रचना जिसके द्वारा वह अपना नया अर्थ

उसमें भर सके, उसमें जीवन डाल सके। यही वह अर्थ-प्रतिपत्ति है जिसके लिए कवि 'वागर्थाविवसम्पृक्त' पार्वती-परमेश्वर की वन्दना करता है। और इस प्रार्थना को निरा वैचित्र्य या नयेपन की खोज कह कर उड़ाना चाहना कवि-कर्म को बिलकुल न समझते हुए उसकी अवहेलना करना है। जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है। नहीं तो, अगर भाव भी वही जाने पुराने हैं, रस भी, और संचारी-व्यभिचारी सबकी तालिकाएँ बन चुकी हैं तो कवि के लिए नया करने को क्या रह गया है? क्या है जो कविता को आवृत्ति नहीं, सृष्टि का गौरव दे सकता है? कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है। इसे नयी कविता का कवि नहीं भूलता। साधारणीकरण का आग्रह भी उसका कम नहीं है; बल्कि यह देखकर कि आज साधारणीकरण अधिक कठिन है वह अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक सजग है और उसकी पूर्ति के लिए अधिक बड़ा जोखिम उठाने को तैयार है। यह किसी हद तक ठीक है कि जहाँ कवि की संवेदनाएँ अधिक उलझी हुई हैं वहाँ ग्राहक या सहृदय में भी उन्हीं परिस्थितियों के कारण वैसा ही परिवर्तन हुआ है और इसलिए कवि को प्रेषण की कुछ सुविधा भी मिलती है। पर ऊपर ज्ञान के विशेष विभाजनों की जो बात कही गयी है उसका हल इसमें नहीं है, बल्कि वह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समूची प्रगति और प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इस बात को पूरी तरह समझ कर ही यह अनुभव किया जा सकता है कि साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है—समूचे ज्ञान-विज्ञान की विशेषीकरण की प्रवृत्ति को उलाँघ कर, उससे ऊपर उठकर, कवि को उसके विभाजित सत्य को समूचा देखना और दिखाना है। इस दायित्व को वह नहीं भूलता है। लेकिन यह बात उसकी समझ में नहीं आती कि वह तब तक के लिए कविता ही छोड़ दे जब तक कि सारा ज्ञान फिर एक होकर सब की पहुँच में न आ जाय—सब अलग-अलग मुहावरे फिर एक होकर 'एक भाषा, एक मुहावरा' के नारे के अधीन न हो जायें। उसे अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है, इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके; साधारणी-करण को उसने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक

पहुँचता रह कर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़ कर नहीं। असल में देखें तो वही परम्परा को साथ लेकर चलना चाहता है, क्योंकि वह कभी उसे युग से कटकर अलग होने नहीं देता, जब कि उसके विरोधी परिणामतः यह कहते हैं कि 'कल का सत्य कल सब समझते थे, आज का सत्य अगर आज सब एक साथ नहीं समझते तो हम उसे छोड़कर कल ही का सत्य कहें'—बिना यह विचारे कि कल के उस सत्य की आज क्या प्रासंगिकता है, आज कौन उसके साथ तुष्टिकर रागात्मक सम्बन्ध जोड़ सकता है !

[२]

यहाँ तक हम **'तार सप्तक'** और उसकी उत्तेजनाप्रसूत आलोचनाओं से उलझते रहे हैं। **'दूसरा सप्तक'** की भूमिका को इससे आगे जाना चाहिए। बल्कि यहाँ से उसे आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि एक पुस्तक की सफ़ाई दूसरी पुस्तक की भूमिका में देना दोनों के साथ थोड़ा अन्याय करना है। हम यहाँ **'तार सप्तक'** का उल्लेख करके आलोचकों के तत्सम्बन्धी पूर्वग्रहों को इधर न आकृष्ट करते, यदि यह अनुभव न करते कि दोनों पुस्तकों का नाम-साम्य और दोनों का एक सम्पादकत्व ही इसके लिए काफ़ी होगा। उन पूर्वग्रहों का आरोप अगर होना ही है, तो क्यों न उनका उत्तर देते चला जाय ?

'दूसरा सप्तक' के कवियों में सम्पादक स्वयं एक नहीं है, इससे उसका कार्य कुछ कम कठिन हो गया है। कवियों के बारे में कुछ कहने में एक ओर हमें संकोच कम होगा, दूसरी ओर आप भी हमारी बात को आसानी से एक ओर रखकर कविताओं पर स्वयं अपनी राय कायम कर सकेंगे। इन नये कवियों को भी कदाचित् 'प्रयोगवादी' कहकर उनकी अवहेलना की जाय, या—जैसा कि पहले भी हुआ—अवहेलना के लिए यही पर्याप्त समझा जाय कि इन कवियों ने जो प्रयोग किये हैं वे वास्तव में नये नहीं हैं, प्रयोग नहीं हैं। ऐसा कहना इन कवियों के बारे में उतना ही उचित या अनुचित होगा जितना कि पहले 'सप्तक' के; हमारी धारणा है कि उससे भी कम उचित होगा। यद्यपि सब कवियों में भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की सफ़ाई एक-सी नहीं है और अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक में मिलेगी, तथापि सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है जो प्रयोग को सार्थक करती है। 'प्रयोग के लिए प्रयोग' इनमें से भी किसी ने नहीं किया है पर नयी समस्याओं और नये दायित्वों का तकाज़ा सबने अनुभव किया है और उससे प्रेरणा सभी को मिली है। **'दूसरा सप्तक'** नये हिन्दी काव्य को निश्चित रूप से एक कदम आगे ले जाता है और कृतित्व की

दृष्टि से समग्रतः सूने आज के हिन्दी क्षेत्र में आशा की नयी लौ जगाता है। ये कवि भी विरामस्थल पर नहीं पहुँचे हैं, लेकिन उनके आगे प्रशस्त पथ है और एक आलोकित क्षितिज-रेखा। गुप्त, 'प्रसाद', 'निराला', पन्त, महादेवी, 'बच्चन', 'दिनकर'; इस सूची को हम आगे बढ़ावेंगे तो निस्सन्देह **'दूसरा सप्तक'** के कुछ कवियों का उल्लेख उसमें होगा। और, फुटकर कविताओं को लें तो, जैसा कि हम ऊपर भी कह आये हैं, एक जिल्द में संख्या में इतनी अच्छी कविताएँ इधर के प्रकाशनों में कम नजर आयेंगी।

यह फिर कहना आवश्यक है कि इन सात कवियों का एकत्र होना किसी दल या गुट के संगठन का सूचक नहीं है। पहली बार हमने कवियों के आपसी मतभेद की बात की थी; नन्ददुलारे जी ने यह परिणाम निकाला कि प्रयोगवादी कविता उन कवियों की कविता होती है जिनमें आपस में मतभेद हो; अब हम कहें कि प्रस्तुत संग्रह में ऐसे भी कवि हैं जिन्हें हमने आज तक देखा ही नहीं, तो कदाचित् उन्हें प्रयोगवाद की एक नयी परिभाषा यह भी मिल जाय कि प्रयोगवादी वे होते हैं जो एक दूसरे का मुँह देखे बिना एक-सी कविता लिखते हैं। उन्हें यह अवसर देने में हमें संकोच नहीं, उनके तर्क पढ़ने में रोचक हैं और उत्तर की अपेक्षा नहीं रखते। लेकिन कहना हम यह चाहते हैं कि ये सात कवि भी विचार-साम्य या समान राजनीतिक या साहित्यिक मतवाद के कारण एकत्र नहीं हुए या किये गये। कुछ से हमारा व्यक्तिगत परिचय भी हुआ अवश्य, पर उनके यहाँ एकत्र होने का कारण उनकी कविता ही है। उसी की शक्ति ने हमें आकृष्ट किया और उसी का सौन्दर्य इस 'सप्तक' की मूल प्रेरणा है। कवियों की ओर से इस संग्रह में भी उतना ही कम, उतना ही अन्यमनस्क और विलम्बित सहयोग मिला जितना पहले 'सप्तक' में मिला था; बल्कि इस बार कठिनाई कुछ अधिक थी क्योंकि इस बार प्रस्ताव उनका नहीं था कि एक सहकारी प्रकाशन किया जाय, इस बार हमारा आग्रह था कि नये काव्य का एक प्रतिनिधि संग्रह निकाला जाय। जो हो, संग्रह आपके सामने है; आप कविताओं को उन्हीं के गुण-दोष के आधार पर देखें, उन्हीं से कवि की सफलता-असफलता और उसके आदर्शों की परख करें! हमने जो कुछ कहा, इसी आशा से कि आप आलोचकों द्वारा आरोपित पूर्वग्रहों की मैली ओट से इन्हें न देखें, अपनी स्वच्छ सहृदयता से ही देखें; हमारा विश्वास है कि इस संग्रह से आपको तृप्ति मिलेगी।

● ●

नयी कविता : प्रयोग के आयाम

तार सप्तक की भूमिका प्रस्तुत करते समय इन पंक्तियों के लेखक में जो उत्साह था, उसमें संवेदना की तीव्रता के साथ निःसन्देह अनुभवहीनता का साहस भी रहा होगा। संवेदना की तीव्रता अब कम हो गयी है, ऐसा हम नहीं मानना चाहते; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अनुभव ने नये कवियों का संकलन प्रस्तुत करते समय दुविधा में पड़ना सिखा दिया है। यह नहीं कि **तीसरा सप्तक** के कवियों की संगृहीत रचनाओं के बारे में हम उससे कम आश्वस्त, या उनकी सम्भावनाओं के बारे में कम आशामय हैं जितना उस समय **तार सप्तक** के कवियों के बारे में थे। बल्कि एक सीमा तक इससे उलटा ही सच होगा। हम समझते हैं कि **तीसरा सप्तक** के कवि अपने-अपने विकास-क्रम में अधिक परिपक्व और मँजे हुए रूप में ही पाठकों के सम्मुख आ रहे हैं। भविष्य में इनमें से कौन कितना और आगे बढ़ेगा, यह या तो ज्योतिषियों का क्षेत्र है या स्वयं उनके अध्यवसाय का। **तीसरा सप्तक** के कवि भी एक ही मंजिल तक पहुँचे हों, या एक ही दिशा में चले हों, या अपनी अलग दिशा में भी एक-सी गति से चले हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। निःसन्देह **तार सप्तक** में भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संगृहीत कवि सब अपनी-अपनी अलग राह का अन्वेषण कर रहे हैं।

दुविधा और संकोच का कारण दूसरा है। **तार सप्तक** के कवि अपनी रचना के ही प्रारम्भिक युग में नहीं, एक नयी प्रवृत्ति की प्रारम्भिक अवस्था में सामने आये थे। पाठक के सम्मुख उनके कृतित्व की माप-जोख करने के लिए कोई बने-बनाये मापदण्ड नहीं थे। उनकी तुलना भी पूर्ववर्ती या समवर्ती दिग्गजों से नहीं की जा सकती थी—क्योंकि तुलना के कोई आधार ही अभी नहीं बने थे। इसलिए जहाँ उनकी स्थिति झारखण्ड की झाड़ी पर अप्रत्याशित फूले हुए वन-कुसुम की-सी अकेली थी, वहाँ उन्हें यह भी सुविधा थी कि उनके यत्किंचित् अवदान की माप झारखण्ड के ही सन्दर्भ में हो सकती थी—दूर के उद्यानों से कोई प्रयोजन नहीं था।

अब वह परिस्थिति नहीं है। 'द्विवेदी काल' के श्री मैथिलीशरण गुप्त या छायावादी युग के श्री 'निराला' जैसा कोई शलाका-पुरुष नयी कविता ने नहीं दिया है (न उसे अभी इतना समय ही मिला है); फिर भी तुलना के लिए और नहीं तो

पहले दोनों सप्तकों के कवि तो हैं ही, और परम्पराओं की कुछ लीकें भी बन गयी हैं। पत्र-पत्रिकाओं में 'नयी कविता' ग्राह्य हो गयी है, सम्पादक-गण (चाहे आतंकित होकर ही !) उसे अधिकाधिक छापने लगे हैं, और उसकी अपनी भी अनेक पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएँ निकलने लगी हैं। उधर उसकी आलोचना भी छपने लगी है, और धुरन्धर आलोचकों ने भी उसके अस्तित्व की चर्चा करना गवारा किया है—चाहे अधिकतर भर्त्सना का निमित्त बना कर ही।

और कृतिकारों का अनुधावन करने वाली, स्वल्प पूँजी वाली 'प्रतिभाएँ' भी अनेक हो गयी हैं।

कहना न होगा कि इन सब कारणों से 'नयी कविता' का अपने पाठक के और स्वयं अपने प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है। यह मान कर भी कि शास्त्रीय आलोचकों से उसे सहानुभूतिपूर्ण तो क्या, पूर्वग्रहरहित अध्ययन भी नहीं मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं उसके आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक दूसरे के आलोचक बन कर सामने आवें।

पूर्वग्रह से मुक्त होना हर समय कठिन है। फिर अपने ही समय की उस प्रवृत्ति के विषय में, जिससे आलोचक स्वयं सम्बद्ध है, तटस्थ होना और भी कठिन है। फिर जब समीक्षक एक ओर यह भी अनुभव करे कि वह प्रवृत्ति विरोधी वातावरण में घिरी हुई है और सहानुभूति ही नहीं, समर्थन और वकालत भी माँगती है, तब उसकी कठिनाई की कल्पना की जा सकती है।

लेकिन फिर भी नयी कविता अगर इस काल की प्रतिनिधि और उत्तरदायी रचना-प्रवृत्ति है, और समकालीन वास्तविकता को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करना चाहती है, तो उसे स्वयं आगे बढ़ कर यह त्रिगुण दायित्व ओढ़ लेना होगा। कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी !)

तीसरा सप्तक के सम्पादन की कठिनाई के मूल में यही परिस्थिति है। **तार सप्तक** एक नयी प्रवृत्ति का पैरवीकार माँगता था, इससे अधिक विशेष कुछ नहीं। **तीसरा सप्तक** तक पहुँचते न पहुँचते प्रवृत्ति की पैरवी अनावश्यक हो गयी है, और कवियों की पैरवी का तो सवाल ही क्या है? इस बात का अधिक महत्त्व हो गया है कि संकलित रचनाओं का मूल्यांकन सम्पादक स्वयं न भी करे तो कम-से-कम पाठक की इसमें सहायता अवश्य करे।

नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है। निःसन्देह जिसे अब 'नयी कविता' की संज्ञा दी जाती है वह भाषा-सम्बन्धी

प्रयोगशीलता को वाद की सीमा तक नहीं ले गयी है—बल्कि ऐसा करने को अनुचित भी मानती रही है। यह मार्ग 'प्रपद्यवादी' ने अपनाया जिसने घोषणा की कि 'चीज़ों का एकमात्र नाम होता है' और वह (प्रपद्यवादी कवि) 'प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है'।

'नयी कविता' के कवि को इतना मानने में कोई कठिनाई न होती कि कोई शब्द किसी दूसरे शब्द का सम्पूर्ण पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यार्थ के अलावा अलग-अलग लक्षणाएँ और व्यंजनाएँ होती हैं—अलग संस्कार और ध्वनियाँ। किन्तु 'प्रत्येक वस्तु का अपना एक नाम होता है', इस कथन को उस सीमा तक ले जाया जा सकता है जहाँ कि भाषा का एक नया रहस्यवाद जन्म ले ले और अल्लाह के निन्यानबे नामों से परे उसके अनिवर्चनीय सौवें नाम की तरह हम प्रत्येक वस्तु के सौवें नाम की खोज में डूब जावें। भाषा-सम्बन्धी यह निन्यानबे का फेर प्रेषणीयता का और इसलिए भाषा का ही बहुत बड़ा शत्रु हो सकता है। शब्द अपने-आपमें सम्पूर्ण या आत्यन्तिक नहीं है; किसी शब्द का कोई स्वयम्भूत अर्थ नहीं है। अर्थ उसे दिया गया है, वह संकेत है जिसमें अर्थ की प्रतिपत्ति की गयी है। 'एकमात्र उपयुक्त शब्द' की खोज करते समय हमें शब्दों की यह तदर्थता नहीं भूलनी होगी : वह 'एकमात्र' इसी अर्थ में है कि हमने (प्रेषण को स्पष्ट, सम्यक् और निर्भ्रम बनाने के लिए) नियत कर दिया है कि शब्द-रूपी अमुक एक संकेत का एकमात्र अभिप्रेत क्या होगा।

यहाँ यह मान लें कि शब्द के प्रति यह नयी, और कह लीजिए मानववादी दृष्टि है; क्योंकि जो व्यक्ति शब्द का व्यवहार करके शब्द से यह प्रार्थना कर सकता था कि 'अनजाने उसमें बसे देवता के प्रति कोई अपराध हो गया हो तो देवता क्षमा करे' वह इस निरूपण को स्वीकार नहीं कर सकता—नहीं मान सकता कि शब्द में बसने वाला देवता कोई दूसरा नहीं है, स्वयं मानव ही है जिसने उसका अर्थ निश्चित किया है। यह ठीक है कि शब्द को जो संस्कार इतिहास की गति में मिल गये हैं उन्हें 'मानव के दिये हुए' कहना इस अर्थ में सही नहीं है कि उनमें मानव का संकल्प नहीं था—फिर भी वे मानव द्वारा व्यवहार के प्रसंग में ही शब्द को मिले हैं और मानव से अलग अस्तित्व नहीं रख या पा सकते थे।

किन्तु 'एकमात्र सही नाम' वाली स्थापना को इस तरह मर्यादित करने का यह अर्थ नहीं है कि किसी शब्द का सर्वत्र, सर्वदा सभी के द्वारा ठीक एक ही रूप में व्यवहार होता है—बल्कि यह तो तभी होता जब कि वास्तव में 'एक चीज का एक ही नाम' होता और एक नाम की एक ही चीज होती! **प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है।** इसी के द्वारा पुराना शब्द नया

होता है—यही उसका कल्प है। इसी प्रकार शब्द 'वैयक्तिक प्रयोग' भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है, दुरूह भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी।

नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं—भले ही जो लीक वह पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो। और जिन्होंने उसे नया कुछ देने के आग्रह में पुराना बिलकुल मिटा दिया है, वे ऐसे देवता हैं जो भक्त को नया रूप दिखाने के लिए अन्तर्धान ही हो गये हैं! कृतित्व का क्षेत्र इन दोनों सीमा-रेखाओं के बीच में है। यह ठीक है कि बीच का क्षेत्र बहुत बड़ा है, और उसमें कोई इस छोर के निकट हो सकता है तो कोई उस छोर के। दुरूहता अपने-आपमें कोई दोष नहीं है, न अपने-आपमें इष्ट है। इस विषय को लेकर झगड़ा करना वैसा ही है जैसा इस चर्चा में कि सुराही का मुंह छोटा है या बड़ा, यह न देखना कि उसमें पानी भी है या नहीं।

प्रयोक्ता के सम्मुख दूसरी समस्या सम्प्रेष्य वस्तु की है। यह बात कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कंटेंट) अलग-अलग चीज़ें हैं; पर जान पड़ता है कि इस पर बल देने की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है! यह बिलकुल सम्भव है कि हम काव्य के लिए नये से नया विषय चुनें पर वस्तु उसकी पुरानी ही रहे; जैसे यह भी सम्भव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो....निःसन्देह देश-काल की संक्रमणशील परिस्थितियों में संवेदनशील व्यक्ति बहुत कुछ नया देखे-सुने और अनुभव करेगा; और इसलिए विषय के नयेपन के विचार का भी अपना स्थान है ही; पर विषय केवल 'नये' हो सकते है, 'मौलिक' नहीं—**मौलिकता वस्तु से ही सम्बन्ध रखती है।** विषय सम्प्रेष्य नहीं है, वस्तु सम्प्रेष्य है। नये (या पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उससे उपपन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते हैं, और उन प्रभावों को सम्प्रेष्य बनाने में कवि का योग (जो सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशतः चेतन भी, और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्योंकि यही कवि मानस की पहुँच और उसके सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँ तक कवि नयी परि-स्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदना का पुतला-भर न बना रह कर उसे वश करके, उसी के सहारे उससे ऊपर उठ कर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसी से हम निश्चय करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि है। (और फिर सम्प्रेषण के साधनों

और तन्त्र (टेकनीक) के उपयोग की पड़ताल करके यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाय !)

यहाँ स्वीकार किया जाय कि नये कवियों में ऐसों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने विषय को वस्तु समझने की भूल की है, और इस प्रकार स्वयं भी पथ-भ्रष्ट हुए हैं और पाठकों में नयी कविता के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण बने हैं।

लेकिन 'नक़लचियों से सावधान !' की चेतावनी असली माल वाले प्रायः नहीं देते; या तो वे देते हैं जिन्हें स्वयं अपने माल की असलियत के बारे में कुछ खटका हो, या फिर वे दे सकते हैं जो स्वयं माल लेकर उपस्थित नहीं हैं और केवल पहरा दे रहे हैं। अर्थात् कवि स्वयं चेतावनी नहीं देते; यह काम आलोचकों, अध्यापकों और सम्पादकों का है। यह भी उन्हीं का काम है कि नक़ली के प्रति सावधान करते हुए असली की साख भी न बिगड़ने दें—ऐसा न हो कि नक़ली से धोखा खाने के डर से सारा कारोबार ही ठप हो जाय !

इस वर्ग ने यह काम नहीं किया है, यह सखेद स्वीकार करना होगा। बल्कि कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि नक़लची कवियों से कहीं अधिक संख्या और अनुपात नक़ली आलोचकों का है—धातु उतना खोटा नहीं है जितनी कि कसौटियाँ ही झूठी हैं ! इतनी अधिक छोटी-मोटी 'एमेच्योर' (और इम्मेच्योर) साहित्य-पत्रिकाओं का निकलना, जबकि जो दो-चार सम्मान्य पत्रिकाएँ हैं वे सामग्री की कमी से क्षयग्रस्त हो रही हैं, इसी बात का लक्षण है कि यह वर्ग अपने कर्तव्य से कितना च्युत हुआ है। यह ठीक है कि ऐसे छोटे-छोटे प्रयास एक आस्था की घोषणा करते हैं और इस प्रकार एक शक्ति (चाहे कितनी स्वल्प) के लक्षण हैं, पर यह भी उतना ही सच है कि इस प्रकार व्यापक, पुष्ट और दृढ़ आधार वाले मूल्यों की उपलब्धि और प्रतिष्ठा का काम क्रमशः कठिनतर होता जाता है।

पर नक़लची हर प्रवृत्ति के रहे हैं, और जिनका भंडाफोड़ अपने समय में नहीं हुआ उन्हें पहचानने में फिर समय की दूरी अपेक्षित हुई है। अधिक दूर न जावें तो न तो 'द्विवेदी युग' में नक़लचियों की कमी रही, न छायावाद युग में। और न ही (यदि इसी सन्दर्भ में उनका उल्लेख भी उचित हो जिनकी उपलब्धि भी 'प्रयोगवादी सम्प्रदाय' से विशेष अधिक नहीं रही जान पड़ती) प्रगतिवाद ने कम नक़लची पैदा किये। हमें किसी भी वर्ग में उनका समर्थन या पक्ष-पोषण नहीं करना है—पर यह माँग भी करनी है कि उनके अस्तित्व के कारण मूल्यवान् की उपेक्षा न हो, असली को नक़ली से न मापा जाय।

शिल्प, तन्त्र या टेकनीक के बारे में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। इन

नामों की इतनी चर्चा पहले नहीं होती थी : पर वह इसी लिए कि इन्हें एक स्थान दे दिया गया था जिसके बारे में बहस नहीं हो सकती थी। यों 'साधना' की चर्चा होती थी, और साधना अभ्यास और मार्जन का ही दूसरा नाम था। बड़ा कवि 'वाक्‌सिद्ध' होता था, और भी बड़ा कवि 'रससिद्ध' होता था। आज 'वाक्‌शिल्पी' कहलाना अधिक गौरव की बात समझा जा सकता है—क्योंकि शिल्प आज विवाद का विषय है : यह चर्चा उत्तर छायावाद काल से ही अधिक बढ़ी, जबकि प्रगति के सम्प्रदाय ने शिल्प, रूप, तन्त्र, आदि सबको गौण कहकर एक ओर ठेल दिया, और 'शिल्पी' एक प्रकार की गाली समझा जाने लगा। इसी वर्ग ने नयी काव्य प्रवृत्ति को यह कह कर उड़ा देना चाहा है कि वह केवल शिल्प का, रूप-विधान का आन्दोलन है, निरा फ़ार्मेलिज़्म है। पर साथ-साथ उसने यह भी पाया है कि शिल्प इतना नगण्य नहीं है; कि वस्तु से रूपाकार को बिलकुल अलग किया ही नहीं जा सकता, कि दोनों का सामंजस्य अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है; और इसी अनुभव के कारण धीरे-धीरे वह भी मानों पिछवाड़े से आकर शिल्पाग्रही वर्ग में आ मिला है। बल्कि अब यह भी कहा जाने लगा है कि 'प्रयोगवाद के जो विशिष्ट गुण बताये जाते थे (जैसा बताने वाले वे ही थे!) उनका प्रयोगवाद ने ठेका नहीं लिया है—प्रगतिवादी कवियों में भी वे पाये जाते हैं।' इससे उलझी परिस्थिति और भ्रामक हो गयी है। वास्तव में नयी कविता ने कभी अपने को शिल्प तक सीमित रखना नहीं चाहा, न वैसी सीमा स्वीकार की। उस पर यह आरोप उतना ही निराधार था जितना दूसरी ओर यह दावा कि केवल प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक चेतना है, और कहीं नहीं। यह मानने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए कि प्रगतिवाद सबसे अधिक समाजाग्रही रहा है; पर केवल इसी से यह नहीं प्रमाणित हो जाता कि उस वाद के कवियों में गहरी सामाजिक चेतना है या कि जैसी है वही उसका स्वस्थ रूप है—उसकी पड़ताल प्रत्येक कवि में अलग करनी ही होगी।

ख़ैर, यहाँ पुराने झगड़ों को उठाना अभीष्ट नहीं है। कहना यह है कि नया कवि नयी वस्तु को ग्रहण और प्रेषित करता हुआ शिल्प के प्रति कभी उदासीन नहीं रहा है, क्योंकि वह उसे प्रेषण से काट कर अलग नहीं करता है। नयी शिल्प दृष्टि उसे मिली है; यह दूसरी बात है कि वह सबमें एक-सी गहरी न हो, या सब देखे पथ पर एक-सी सम गति से न चल सके हों। यहाँ फिर मूल्यांकन से पहले यह समझना आवश्यक है कि यह नयी दृष्टि क्या है, और किधर चलने की प्रेरणा देती है।

संकलित कवियों के विषय में अलग-अलग कुछ कहना कदाचित् उनके और

पाठक के बीच व्यर्थ एक पूर्वग्रह की दीवार खड़ा करना होगा। एक बार फिर इतना ही कहना अलम् होगा कि ये कवि किसी एक सम्प्रदाय के नहीं हैं; न सबकी साहित्यिक मान्यताएँ एक हैं, न सामाजिक, न राजनीतिक; न ही उनकी जीवन-दृष्टि में ऐसी एकरूपता है। भाषा, छन्द, विषय, सामाजिक प्रवृत्ति, राजनीतिक आग्रह या कर्म की दृष्टि से प्रत्येक की स्थिति या दिशा अलग हो सकती है; कोई इस छोर के निकट पाया जा सकता है, कोई उस छोर के, कोई 'बायें' तो कोई 'दाहिने', कोई 'आगे' तो कोई 'पीछे', कोई सशंक तो कोई साहसिक। यह नहीं कि इन बातों का कोई मूल्य न हो। पर **तीसरा सप्तक** में न तो ऐसा साम्य कलन का आधार बना है, न ऐसा वैषम्य बहिष्कार का। संकलनकर्ता ने पहले भी इस बात को महत्त्व नहीं दिया है कि संकलित कवियों के विचार कहाँ तक उसके विचारों से मिलते हैं या विरोधी हैं; न अब वह इसे महत्त्व दे रहा है। क्योंकि उसका आग्रह रहा है कि काव्य के आस्वादन के लिए इससे ऊपर उठ सकना चाहिए और उठना चाहिए। सप्तकों की योजना का यही आधारभूत विश्वास है। प्रयोज-नीय यह है कि संकलित कवियों में अपने कवि-कर्म के प्रति गम्भीर उत्तरदायित्व का भाव हो, अपने उद्देश्यों में निष्ठा और उन तक पहुँचने के साधनों के सदुपयोग की लगन हो। जहाँ प्रयोग हो वहाँ कवि मानता हो कि वह सत्य का ही प्रयोग होना चाहिए। यों काव्य में सत्य क्योंकि वस्तुसत्य का रागाश्रित रूप है इसलिए उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य की गुंजाइश तो है ही, बल्कि व्यक्ति की छाप से युक्त होकर ही वह काव्य का सत्य हो सकता है। क्रीड़ा और लीला-भाव भी सत्य हो सकते हैं—जीवन की ऋजुता भी उन्हें जन्म देती है और संस्कारिता भी। देखना यह होता है कि वह सत्य के साथ खिलवाड़ या 'फ़्लर्टेशन' मात्र न हो।

इन कवियों के एकत्र पाये जाने का आधार यही है। ऐसा दावा नहीं है कि जिस काल या पीढ़ी के ये कवि हैं, उसके यही सर्वोत्कृष्ट या सबसे अधिक उल्लेख्य कवि हैं। दो-एक और आमन्त्रित होकर भी इसलिए रह गये कि वे स्वयं इसमें आना नहीं चाहते थे—चाहे इसलिए कि दूसरे कवियों का साथ उन्हें पसन्द नहीं था, चाहे इसलिए कि सम्पादक का सम्पर्क उन्हें अप्रीतिकर या हेय लगा, चाहे इसलिए कि वे अपने को पहले ही इतना प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित मानते थे कि 'नये' कवियों के साथ आने में उन्होंने अपनी हेठी या अपना अहित समझा। एक इस-लिए रह गये कि उनकी स्वीकृति के बावजूद दो वर्ष के परिश्रम के बाद भी उनकी रचनाएँ न प्राप्त हो सकीं। एक-दो इसलिए भी छोड़ दिये गये कि एकाधिक स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुकने के कारण उनका ऐसे संकलन में आना अनावश्यक हो गया था—स्मरण रहे कि मूल योजना यही थी कि सप्तक ऐसे कवियों को

सामने लायेंगे जिनके स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित नहीं हुए हैं और जो इस प्रकार भी 'नये' हैं। यदि प्रस्तुत संकलन के भी दो-एक कवियों के स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तो वह इसी बात का द्योतक है कि **तीसरा सप्तक** की पाण्डुलिपि बनने और उसके प्रकाशन के बीच एक लम्बा अन्तराल रहा है। यों हम तो चाहते हैं कि सभी कवियों के स्वतन्त्र संग्रह छपें—बल्कि सप्तक में उन्हें लाने का कारण ही यह विश्वास है कि उनके अपने-अपने संग्रह छपने चाहिए।

इन शब्दों के साथ हम ओट होते हैं। भूमिका का काम भूमि तैयार करना है; भूमि 'तैयार' वही है जिस पर चलने में उसकी ओर से बेखटके होकर उसे भुला दिया जा सके। पाठक से अनुरोध है कि अब वह आगे बढ़ कर कवियों से साक्षात्कार करे। उपलब्धि वहीं है।

काव्य का सत्य और कवि का वक्तव्य

दूसरों की रचनाओं के लिए भूमिका लिखने का काम मुझे हमेशा कठिन जान पड़ा है। साधारणतया उसका कारण यह होता है कि वह एक औपचारिक काम होता है। प्रस्तुत संकलन की भूमिका औपचारिक काम तो नहीं है; चयन और संकलन स्वयं मैंने अपनी रुचि और योजना के अनुसार किया है और यदि संकलित कवि मुझे महत्त्वपूर्ण लगे हैं, उनकी रचनाएँ मुझे अच्छी लगी हैं तो उनके बारे में कुछ कहने में औपचारिकता अनावश्यक है। इसके बावजूद भूमिका लिखने का काम अत्यन्त दुष्कर जान पड़ रहा है। इसके कुछ कारण व्यक्तिगत हैं। फिर भी उनकी चर्चा से बचना उचित अथवा संगत नहीं होगा क्योंकि उससे सम्पादक के प्रति ही नहीं संकलित कवियों के प्रति भी अन्याय हो जायेगा।

पहले तीन सप्तकों के बाद यह **चौथा सप्तक** अपेक्षया लम्बे अन्तराल से प्रकाशित हो रहा है। इस लम्बी अवधि में हिन्दी में कविता प्रचुर मात्रा में लिखी गयी है। सब अच्छी नहीं है यह कहना किसी रहस्य का उद्घाटन करना नहीं है। और शायद अगर यह भी कहूँ कि प्रकाशित कविता का अधिकांश घटिया रहा है तो उसे पाठक एक अनावश्यक स्पष्टोक्ति भले ही मान लें, ग़लत नहीं मानेंगे। किसी भी युग के काव्य के बारे में ऐसा ही कहा जा सकता है—अच्छा काव्य अनुपात की दृष्टि से थोड़ा ही रहता है। लेकिन इस लम्बे अन्तराल की रचना में एक अंश छाँटना—सैकड़ों कवियों में से केवल सात चुनना और फिर उनकी रचनाओं में से चयन करना—केवल इसलिए कठिन नहीं है कि कवियों की बहुत बड़ी संख्या में से सात कवि चुनने हैं। कठिनाई जितनी बाहर प्रस्तुत सामग्री में है **उतनी ही चयन करने वाले के आभ्यन्तर परिवर्तनों में और उनके कारण कवियों के बदले हुए सम्बन्धों में भी है।** निःसन्देह प्रत्येक सप्तक के साथ यह कठिनाई कुछ बढ़ती गयी। **तार सप्तक** का जब प्रकाशन हुआ तो उसमें संकलित अन्य कवि सभी प्रायः मेरे समवयसी और साथी थे और उनकी रचनाओं के चयन में एक सहजता थी। उनके बारे में कुछ कहना भी इसी कारण कम कठिन था। जब **दूसरा सप्तक** प्रकाशित हुआ तब भी परिस्थिति में कुछ परिवर्तन आ गया था, और **तीसरा सप्तक** में तो परिस्थिति स्पष्टतया बदली हुई थी। **तार सप्तक** एक हद तक सहयोगी प्रकाशन था जिसे सहयोगियों ने एक न एक दिशा देने के लिए संयोजित

किया था; **तीसरा सप्तक** स्पष्टतया एक सम्पादक की काव्य-दृष्टि और उसके काव्य-विवेक का प्रतिफलन था।

इतनी बात तो **चौथा सप्तक** के बारे में भी सच है। और भी स्पष्ट करके कहूँ कि यह घोषित रूप से, एक सम्पादक की काव्य-दृष्टि, साहित्यिक रुचि और साहित्यिक विवेक का प्रतिफलन है। लेकिन **तीसरा सप्तक** के समय की अपेक्षा आज यह काम कितना कठिनतर हो गया इसकी ओर पाठक का ध्यान दिलाना आवश्यक है। शायद उस कठिनाई को स्पष्ट कर देने का सबसे अच्छा तरीका यही हो कि मैं यह स्वीकार करूँ कि पहले तीन सप्तकों का सम्पादन करते हुए मैं यह अनुभव करता रहा था कि मैं काव्य में कुछ ऐसी नयी प्रवृत्तियों का व्याख्याता और वकील हूँ, जिनके साथ मेरी पूरी सहानुभूति है। अर्थात् पहले तीन सप्तक मेरी दृष्टि में एक तरह के साहित्यिक आन्दोलन और युग-परिवर्तन के अंग थे। **तीसरा सप्तक** के बाद मुझे ऐसा जान पड़ा कि वे नयी प्रवृत्तियाँ काव्यप्रेमी समाज में पूरी तरह स्वीकृति पा गयी हैं। ऐसी स्थिति में उनके लिए और आन्दोलन अथवा वकालत की कोई आवश्यकता नहीं रही। और मन ही मन मैं इस परिणाम पर भी पहुँच चुका था कि अब सप्तकों के क्रम में और कोई संकलन जोड़ना अनावश्यक हो गया है। बल्कि उसके बाद के कुछ वर्षों में तो ऐसा भी अनुभव हुआ कि स्वीकार की प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ गयी है कि नयी रचनाओं का दोष देखना भी कठिन हो गया है : उस धारा में बह कर आने वाला सभी कुछ स्वीकार कर लिया जाता है और यहाँ तक कि पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को अपने विवेक से काम लेते डर लगता है! मैंने कहा कि किसी भी युग का समूचा काव्य-साहित्य समान रूप से अच्छा नहीं होता; कुछ अच्छी रचनाओं के साथ बहुत ही साधारण कोटि की या उससे भी निचले स्तर की रचनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं। जिस स्थिति में पत्रिकाओं की बाढ़ हो और उसके साथ-साथ प्रतिमान सामने रखने वाली कोई सर्वमान्य पत्रिका न हो, साधारण और घटिया रचनाओं का प्रसार और भी बढ़ जाता है। लेकिन यह मान लेने के साथ इस बात का उल्लेख भी आवश्यक है कि **तार सप्तक** के सम्पादक को **तीसरा सप्तक** के बाद के युग की स्थिति से कुछ अतिरिक्त क्लेश इसलिए भी होने लगा कि वय के अन्तर के साथ संवेदन का अन्तर भी स्वभावतः बढ़ने लगा। मैं नहीं जानता कि **तार सप्तक** के जो कवि आज जीवित हैं वे सभी इस बात को स्वीकार करेंगे या नहीं; लेकिन उनके स्वीकार न करने पर भी मैं तो यही मानूँगा कि यह बात उनके बारे में भी उतनी ही सच होगी।

ऐसी बढ़ती हुई दूरी अनिवार्य है और उसके साथ-साथ इच्छा रहते भी समानता का कठिनतर होते जाना भी स्वाभाविक है। इससे एक परिणाम तो यह

निकलता ही है कि आज जो कविता लिखी जा रही है उसे अगर एक मुकदमे के रूप में प्रस्तुत करना है तो उसका वकील उसी में से निकलना चाहिए—आज जो लिखा जा रहा है उसका सच्चा वकील आज का लिखने वाला ही होना चाहिए। वैसे संकलन प्रकाशित होते भी रहे हैं, अभी हाल में दो-तीन हुए हैं। मुकदमे का विचार जिन्हें करना हो उन्हें अवश्य ही वे संग्रह देखने चाहिए और उनकी भूमिकाओं में अथवा कवियों के वक्तव्यों में दी गयी दलीलों का विचार करना ही चाहिए। लेकिन अगर मैं उस दरजे का वकील नहीं हो सकता तो इसमें एक अनिवार्यता है जिसे मैं न केवल स्वीकार करना चाहता हूँ बल्कि जिसकी ओर पाठक का ध्यान भी दिला देना चाहता हूँ। क्योंकि यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि **चौथा सप्तक** में जिन कवियों की रचनाएँ मैं चुन कर प्रस्तुत कर रहा हूँ उनका मैं प्रशंसक तो अवश्य हूँ, लेकिन उन्हें पाठक के सामने प्रस्तुत करते हुए उनके साथ एक दूरी, एक तटस्थता का भी बोध मुझमें है। मैं उनका प्रशंसक हूँ, मैं उनमें से एक नहीं हूँ—या हूँ तो उसी अर्थ में जिस अर्थ में किसी भी युग का कोई भी कवि किसी दूसरे युग के कवि के साथ होता है। कवियों की बिरादरी में भी किसी भी दूसरी बिरादरी की तरह एक बन्धन समकालीनता का होता है तो एक अनुक्रमिकता का। मैं नहीं चाहूँगा कि मेरी इस लाचारी का दंड संकलित कवियों को मिले। इस मामले में मेरी सतर्कता और बढ़ जाती है क्योंकि मैं जानता हूँ कि उनका जोखम अधिक है। **तीसरा सप्तक** के बाद के लम्बे अन्तराल का एक परिणाम यह भी हुआ है कि **चौथा सप्तक** में रखे गये कवियों के बीच वयस की दृष्टि से काफी अन्तर है। यह तो सम्भव था कि इससे बचने के लिए सभी कवि युवतर वर्ग में से चुने जाते: लेकिन उससे भी एक दूसरे प्रकार का अन्याय हो जाता—केवल बीच की पीढ़ी के छूट जाने वाले कवियों के प्रति नहीं बल्कि संकलित कवियों के प्रति भी, इसलिए कि पाठक उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए उन कवियों को भी सामने रखता जो बीच के अन्तराल के प्रमुख कवि थे। यों तो अब भी यह सम्भावना बनी ही रहेगी क्योंकि सात की संख्या को सीमा बना लेने से कई कवि छूट जाते हैं। लेकिन यह बात तो पाठक बहुत आसानी से समझ सकेंगे।

पाठक को एक और बात याद दिला देना उचित होगा। कवियों का चयन करते समय एक बात यह भी मेरे ध्यान में थी कि जिन कवियों के एक से अधिक स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं उन्हें छोड़ भी दिया जा सकता है क्योंकि वे तो पाठक के सामने मौजूद हैं। मुझे यह प्रयत्न करना चाहिए कि जो अच्छे रचनाकार अभी अपेक्षया कम प्रसिद्ध हुए हैं उन्हें सामने लाया जाय। चौथा सप्तक के संकलित

कवियों में से दो-तीन की रचनाएँ पुस्तकाकार छप चुकी थीं, लेकिन कारण चाहे जो रहा हो काव्यप्रेमी जनता के सामने नहीं आ सकी थीं। यह भी सम्भव है कि चयन की प्रक्रिया आरम्भ होने से लेकर इस पुस्तक के प्रकाशन तक की अवधि में संगृहीत और भी दो-एक कवियों के एकल संग्रह प्रकाशित हो जायें। मैं नहीं समझता कि उससे मेरा प्रयत्न दूषित होगा। मुझे तो प्रसन्नता होगी कि जिन कवियों को मैं उल्लेख्य मानता हूँ उनके नये स्वतन्त्र संग्रह सामने आ रहे हैं।

[२]

मैं कह आया कि तीन सप्तकों के प्रकाशन से मुझे वह प्रक्रिया पूरी हो गयी जान पड़ी थी जो नयी काव्द-प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक थी। मैंने यह भी कहा कि उसके बाद कभी-कभी ऐसा भी अनुभव हुआ कि गुण-दोष-विवेक अपना आधार खो बैठा है। ऐसा लगने लगा कि एक पक्ष की वकालत कर चुकने के बाद अब प्रतिपक्ष की ओर से भी कुछ कहना आवश्यक हो गया है। लेकिन कविता के प्रतिपक्ष का मेरे लिए तो कुछ अर्थ नहीं है—मैं सदैव सत्काव्य का समर्थक हूँ और बना रहना चाहूँगा। समकालीन काव्य के दोषों अथवा उसकी त्रुटियों का उल्लेख करूँगा तो प्रतिपक्षी भाव से नहीं, वरन् उसके श्रेष्ठ कर्तृत्व को सामने लाने के लिए ही। और उसमें यह भी कहना उचित होगा कि काव्य के गुण-दोष की ओर ध्यान दिलाते हुए समकालीन आलोचना की त्रुटियों और उसकी एकांगिता को भी अनदेखा न करना होगा। इस एकांगिता ने नयी रचना का बहुत अहित किया है: उसने नये रचनाकार को दिग्भ्रमित किया है और पाठक को भी इसलिए पथभ्रष्ट किया है कि उसने पाठक के सामने जो कसौटियाँ दी हैं वे स्वयं झूठी हैं। नयी कविता ने एक बार फिर रचयिता और गृहीता समाज का सम्बन्ध स्थापित किया था, संचार की प्रणालियाँ बनायी थीं और खोली थीं। संकीर्ण और मताग्रही आलोचना ने फिर उन्हें अवरुद्ध कर दिया है। कवियों की संख्या कम नहीं हुई है—हो सकता है कि कुछ बढ़ ही गयी हो—लेकिन कवि समुदाय पाठक अथवा श्रोता समाज के न केवल निकटतर नहीं आया है बल्कि उस समाज में उसने फिर एक उदासीनता का भाव पैदा कर दिया है। इसके कारणों की कुछ पड़ताल अपेक्षित है।

यह तो कहा जा सकता है कि आज की कविता में जो प्रवृत्तियाँ मुखर हुई हैं उनके बीज उससे पहले की कविता में मौजूद थे—उस कविता में भी जिसे प्रयोग-वादी कहा जाता है और उसमें भी जिसे प्रगतिवादी नाम दिया जाता है। (दोनों ही नाम गलत हैं, लेकिन उस बहस में अभी न पड़ा जाय।) यह बात वैसे ही सही होगी जैसे यह बात कि प्रयोगवादी अथवा प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के बीज छाया-

वादियों में थे और छायावाद के बाद उससे पहले के इतिवृत्तात्मक काव्य में इत्यादि। ऐसा तो होता ही है क्योंकि कविता कविता में से ही निकलती है, लेकिन इसके कारण हम किसी एक युग अथवा धारा अथवा आन्दोलन की प्रवृत्तियों के गुण-दोष का विवेचन करते समय सारी जिम्मेदारी उसके पूर्ववर्तियों पर नहीं थोप देते। किसी भी युग के आग्रह उसी युग के होते हैं और उनकी जिम्मेदारी उसी पर होती है।

आज की कविता में वक्तव्य का प्राधान्य हो गया है। उसके भीतर जो आन्दोलन हुए हैं और हो रहे हैं वे सभी इस बात को न केवल स्वीकार करते हैं बल्कि बहुधा इसी को अपने दावे का आधार बनाते हैं। कविता में वक्तव्य तो हो सकता है और वक्तव्य होने से ही वह अग्राह्य हो जाय ऐसा भी नहीं है। लेकिन वक्तव्य के भी नियम होते हैं और उनकी उपेक्षा काव्य के लिए खतरनाक होती है। यह बात उतनी ही सच है जितनी यह कि काव्य में कवि वक्ता के रूप में भी आ सकता है, लेकिन उत्तम पुरुष के प्रयोग की जो मर्यादाएँ हैं उनकी उपेक्षा करने से कविता का 'मैं' कवि न होकर एक अनधिकारी आक्रान्ता ही हो जाता है। आज कविता पर एक दावे करने वाला 'मैं' बुरी तरह छा गया है। कविता में 'मैं' भी निषिद्ध नहीं है, दावे भी निषिद्ध नहीं हैं, कविता प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध भी हो सकती है, लेकिन कहाँ अथवा कहाँ तक इन सबका काव्य में निर्वाह हो सकता है और कहाँ ये काव्य के शत्रु बन जाते हैं यह समझना आवश्यक है।

मंच पर हम नाटक देखते हैं तो उसमें आने वाला प्रत्येक चरित्र वक्ता होता है, उत्तम पुरुष में अपना वक्तव्य देता है, प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध होता है; हमारे सामने अभिनेता होता है, लेकिन हम देखते हैं तो अभिनेता को नहीं, उसके माध्यम से प्रस्तुत होते हुए चरित्र को। हम यह कभी नहीं भूलते कि हमारे सामने एक अभिनेता है, लेकिन फिर भी देखते हैं हम चरित्र को ही। अभिनेता कहता है 'मैं' लेकिन वह मैं हमारे लिए चरित्र के वक्तव्य का स्वर होता है। ऐसी स्थिति में नाटक के डायलाग अत्यन्त काव्यमय भी हो सकते हैं। लेकिन उन्हीं शब्दों में वही वक्तव्य यदि अभिनेता द्वारा प्रस्तुत किये गये चरित्र का न होकर स्वयं अभिनेता का होता, मंच पर बोलने वाला 'मैं' यदि वह चरित्र न होता जो होकर भी वहाँ नहीं है, उसके बदले में स्वयं अभिनेता होता तो बिलकुल जरूरी नहीं है कि वही वक्तव्य उस स्थिति में भी हमें काव्यमय जान पड़ता या हमें सहन भी होता। अभिनेता द्वारा प्रस्तुत किये गये चरित्र को हम अपना वक्तव्य उत्तम पुरुष एक वचन में देने का अधिकार देते हैं; अभिनेता को वह अधिकार हम नहीं देते, यानी एक चेहरा, **मास्क** अथवा **पर्सोना** हमें स्वीकार है, स्वयं नट हमें स्वीकार नहीं है।

काव्य में इस बात का महत्त्व है। संस्कृत में काव्य का एक दृश्य रूप था और एक श्रव्य: काव्य दोनों ही थे। और **पर्सोना** अथवा अभिनेय चरित्र के साथ सम्बन्ध दृश्य काव्य में ही नहीं, श्रव्य काव्य में भी अपना महत्त्व रखता है। काव्य में बोलने वाला हर 'मैं' **पर्सोना** होता है, अभिनेय चरित्र होता है। जब कवि स्वयं अपनी बात भी कहता है तो वह हमें तभी स्वीकार होती है—मैं कह सकता हूँ कि तभी सह्य भी होती है—**जब वह कथ्य अथवा वक्तव्य प्रत्यक्ष रूप से कवि का न होकर एक पर्सोना अथवा अभिनेय चरित्र के रूप में उसका हो।**

और इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात को आज की कविता के अधिसंख्य कवि भूल गये हैं और विस्मृति में आज के आलोचक ने उनकी सहायता की है। **मास्क** अथवा चेहरे अथवा मुखौटे के प्रति जिस अवज्ञा भाव को इतना बढ़ावा दिया गया है उसने यह भी भुला देने में हमारी मदद की है कि **मुखौटे केवल धोखा देने के लिए नहीं बल्कि सच्चाई को प्रस्तुत करने के लिए भी लगाये जाते हैं।** साधारण जीवन में मुखौटा फ़रेब है, लेकिन नाटक में वही मुखौटा एक वृहत्तर यथार्थ में हमें लौटा लाने में सहायक हो सकता है—ऐसे वृहत्तर यथार्थ में जिसका सामना शायद हम बिना मुखौटे के कर ही न सकें। सारे संसार के नाट्य में हम इस बात का प्रमाण पा सकते हैं—जहाँ भी साधारण सच्चाइयों से आगे बढ़ कर विराट् को स्थापित करने का प्रयत्न होता है वहाँ मुखौटे आते हैं।

कविता के लिए—काव्य के श्रव्य रूप के लिए—इस बात का क्या महत्त्व है? यही कि वक्तव्य वक्तव्य होने के नाते अग्राह्य नहीं है, तब अग्राह्य हो जाता है जब उसमें केवल कवि-रूपी इकाई का 'मैं' अथवा अहम् बोलता है। अग्राह्य नहीं तो महत्त्वहीन तो वह हो ही जाता है क्योंकि हमारा प्रयोजन कविता से है, कवि से नहीं, या कवि से है तो बिलकुल साधारण-सा।

और हर युग के महान् कवि इस बात को पहचानते रहे हैं। यह नहीं है कि कवियों ने अपनी भावनाएँ, अपने राग-विराग, अपनी लालसाएँ और आकांक्षाएँ व्यक्त नहीं कीं, लेकिन जब की हैं और काव्य रूप में की हैं तो किसी दूसरे चरित्र पर उनका आरोप करके। भक्त कवियों ने प्रेम अथवा विरह की जिन अवस्थाओं का वर्णन कृष्ण और राधा अथवा गोपियों के माध्यम से इतने मार्मिक ढंग से किया है ऐसा नहीं है कि उन भावनाओं से वे अपने जीवन में अपरिचित रहे होंगे, लेकिन उन्हीं भावनाओं को वे अपनी, कवि की निजी, भावनाओं के रूप में प्रस्तुत करते तो वे न केवल श्रेष्ठ काव्य की कोटि में न आतीं वरन् असमंजस का कारण भी बनतीं—लगभग अश्लील जान पड़ने लगतीं। और भक्त कवियों तक ही क्यों सीमित रहें—कोई कह सकता है कि भक्ति की बात तो लौकिक और अलौकिक

के बीच के सम्बन्ध की है—शुद्ध लौकिक स्तर पर रह कर हम रीति के कवियों का भी उदाहरण लें : वहाँ भी 'मैं' कभी नहीं आता, नायक अथवा नायिका आती है, यद्यपि उन पर आरोपित भावनाएँ बिलकुल मानवीय हैं और माना जा सकता है कि कवि अथवा कवयित्री के निजी जीवनानुभव से सम्बद्ध रही हैं। वक्तव्य वहाँ हैं निजी और अन्तरंग, ऐसे भावों की अभिव्यक्ति भी हैं जो साधारण जीवन में सामने आने पर असमंजस का, अस्वस्ति भाव पैदा कर सकते हैं, लेकिन रीति काव्य के छन्दों में क्यों वे इतने ग्राह्य, इतने आकर्षक, इतने मार्मिक हो जाते हैं ? क्योंकि वहाँ कवि 'मैं' के रूप में आप के सामने नहीं आता। वह यह दावा नहीं करता कि यह मेरा भोगा हुआ यथार्थ है। भोगा हुआ तो वह अवश्य है, लेकिन जिसका भोगा हुआ है वह दावेदार बनकर आपके सामने नहीं आता, वरं उसे एक दूसरे को सौंप देता है।

इस सौंप देने का एक विशेष महत्त्व है। यह सौंप दे सकना अपने-आप में साधारणीकरण की एक कसौटी है। कवि जहाँ 'मैं' के रूप में पाठक अथवा श्रोता के समक्ष होकर अपना वक्तव्य देता है वहाँ इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि वह वक्तव्य या उसमें प्रकट किये गये भाव अथवा विचार एक सार्वभौम सत्ता पा चुके हैं। दूसरे शब्दों में यह सिद्ध नहीं हुआ है कि वे बहुजन-संवेद्य हो गये हैं, सम्प्रेष्य हो गये हैं। उन्हीं को जब हम दूसरे चरित्र के माध्यम से—नायक अथवा नायिका अथवा **पर्सोना** के माध्यम से—प्रस्तुत करते हैं, तब इस कसौटी पर हम अपनी परीक्षा करवा चुके होते हैं।

तो एक बार अपनी बात मैं दोहरा दूँ। आज की कविता का बहुत बड़ा और शायद सबसे बड़ा दोष यह है कि उस पर एक 'मैं' छा गया है, वह भी एक अपरीक्षित और अविसर्जित मैं। **आज की कविता बहुत बोलती है,** जबकि कविता का काम बोलना है ही नहीं।

[३]

यदि यह कहा जाय कि आज कवि के पास सामान्यतया पिछली पीढ़ी के कवि से अधिक जानकारी होती है और वह साधारण जीवन की व्यावहारिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के बारे में अधिक सजग और सतर्क होता है तो इसे कोई आश्चर्यजनक स्थापना नहीं समझा जायेगा क्योंकि यह समूचे समाज के विकास की दिशा के अनुरूप ही है, और यदि इस व्यापकतर व्यावहारिक जागरूकता का एक पहलू राजनीतिक जागरूकता है तो वह भी स्वाभाविक है क्योंकि व्यावहारिक जीवन में राजनीति का स्थान और महत्त्व लगातार बढ़ता गया है। लेकिन जो बात चिन्त्य है वह यह कि कवि की राजनीतिक चेतना के साथ राज-

नीतिक मतवाद का आरोप कहाँ तक उचित है? क्या कविता को अनिवार्यतया किसी राजनीतिक सन्देश की वाहिका होना चाहिए? और जो कविता संकल्पपूर्वक किसी राजनीतिक मत का प्रतिपादन करने नहीं चलती वह क्या इसीलिए अनिवार्यतया घटिया हो जायेगी? क्या काव्य केवल एक साधन है?

सप्तकों की परम्परा में कभी इस बात को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया कि संकलित कवियों के राजनीतिक विचार क्या हैं। राजनीतिक पक्षधरता को कभी कसौटी नहीं बनाया गया। **चौथा सप्तक** में भी उस कसौटी से काम नहीं लिया गया है और पाठक जानेंगे—जैसा कि सम्पादक भी जानता है—कि संकलित कवियों के राजनीतिक विचार और उनके राजनीतिक सम्पर्क अथवा आस्थाएँ बिलकुल अलग-अलग हैं। लेकिन इस बात पर बल देकर इस ओर भी ध्यान देना चाहिए कि आज का राजनीतिक और साहित्यिक वातावरण पहले से बहुत बदला हुआ है और राजनीति में मतवादों के साथ-साथ साहित्य में मतवादी चिन्तन का दावा बढ़ता गया है। शायद राजनीति में भी उसके कुछ दुष्परिणाम हुए हैं, लेकिन उनकी चर्चा को विषयान्तर मान कर छोड़ दें तो यह कहना होगा कि मतवादी साहित्य-चिन्तन ने काव्य का अहित ही किया है। साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों की चर्चा तो पचास वर्ष पहले शुरू की गयी थी, लेकिन अपने प्रारम्भिक दिनों में प्रगतिशीलता का आन्दोलन उन सभी लोगों को साथ लेकर चलने का प्रयत्न कर रहा था जिनके विचारों को साधारण तौर पर प्रगतिशील कहा जा सके। उस दौर के कवियों को भी नये चिन्तन से प्रेरणा मिली और उनकी काव्य-रचना ने भी राजनीतिक आन्दोलन को बल दिया। उसके बाद कैसे बढ़ती हुई वैचारिक संकीर्णता और असहिष्णुता के कारण प्रायः सभी बड़े साहित्यकार एक-एक करके निकाल दिये गये या स्वयं अलग हट गये और इससे कैसे आन्दोलन ही मृतप्राय हो गया, ये बातें समकालीन साहित्य के इतिहास का अंग हो गयी हैं। जिस काल की रचनाओं से **चौथा सप्तक** के कवि और उनकी कविताएँ ली गयी हैं उसमें फिर राजनीतिक पक्षधरता के आन्दोलन एक से अधिक दिशाओं में आरम्भ हुए और ध्रुवीकरण के नाम पर फिर एक व्यापक असहिष्णुता का वातावरण बन गया। आपातकाल ने एक लगभग देशव्यापी आतंक की सृष्टि की तो उसकी परिधि के भीतर विभिन्न प्रकार की असहिष्णुताएँ आतंक के छोटे-छोटे मंडल बनाती रहीं। आपातकाल की समाप्ति से आतंक का तो अन्त हो गया, लेकिन मतवादी असहिष्णुताओं के ये वृत्त अभी कायम हैं। **चौथा सप्तक** के सभी कवि इस परिस्थिति से न केवल परिचित रहे हैं बल्कि उसके दबाव का तीखा अनुभव भी करते रहे हैं और कुछ ने उसके कारण कष्ट भी सहा है। इसलिए अगर मैं कहूँ

कि संकलित कवियों के राजनीतिक विचारों के अलग होते हुए भी एक स्तर पर वे एक सामान्य अनुभव की बिरादरी में आ जाते हैं तो यह कथन अनुचित न होगा और वह सामान्य अनुभव है **एक स्वातन्त्र्य का अनुभव**। कवि के संसार की स्वायत्तता का एक बोध संकलित सभी कवियों की रचनाओं में मिलता है—कुछ में अधिक परिपक्व तो कुछ में कम, लेकिन सर्वत्र काव्य के स्वर में अपनी एक विशेष गूंज मिलाये हुए। यह कदाचित् **चौथा सप्तक** के कवियों का—और उनके युग की अच्छी कविता का—विशेष गुण है। और आशा की जा सकती है कि एक सार्वभौम मौलिक मूल्य के इस आग्रह के कारण **चौथा सप्तक** की कविताएँ न केवल स्वयं लोकप्रिय हो सकेंगी वरन् कविता के प्रति जिस उदासीनता की बात मैंने पहले की है उसे भी कुछ कम कर सकेंगी।

[४]

मैं नहीं जानता कि संकलित सातों कवियों के बारे में अलग-अलग कोई समीक्षात्मक टिप्पणी अथवा संस्तुति मुझसे अपेक्षित है या नहीं। लेकिन अपेक्षित हो भी तो वह काम मैं अभी नहीं करने जा रहा हूँ। यों भी यही उचित है कि पाठक इन कवियों से साक्षात्कार करते समय और उनके काव्य-संसार में प्रवेश करते समय मेरे पूर्वग्रहों का बोझ न लेकर चले, मेरे चश्मे से न देखे। इसके अलावा मैं यह भी नहीं चाहता कि मेरी संस्तुतियों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया का दंड इन कवियों को मिले—और मैं कटु अनुभव से जानता हूँ कि ऐसा प्रायः होता आया है! निश्चय ही जिस पीढ़ी या जिन दशकों से ये कवि चुने गये हैं उनमें और भी अच्छी रचनाएँ हुई हैं, पर उनका अथवा उनके कवियों का यहाँ न पाया जाना इस बात का द्योतक नहीं है कि मैं उनकी अवमानना करना चाहता हूँ। मेरा दावा इतना ही होगा कि संकलित कवि इस अवधि की अच्छी कविता का प्रतिनिधित्व करते हैं, कि उनकी रचनाएँ किसी बिन्दु पर आकर ठहर नहीं गयी हैं, बल्कि उनकी काव्य-प्रतिभा का अभी और विकास हो रहा है, कि इसीलिए मेरा विश्वास है कि निकट भविष्य में इन कवियों के कृतित्व की छाप समकालीन हिन्दी काव्य पर और गहरी पड़ेगी।

और यह बात संकलित कवियों के प्रति मेरी शुभाशंसा भी है, **चौथा सप्तक** के पाठक को मेरा आश्वासन भी।

'स्वस्ति और संकेत' के लिए*

किसी भी बड़े कवि की प्रशंसा दो अवस्थितियों में अविवाद्य होती है। प्रथमतः उसके जीवन-काल के उस युग में जब उसकी प्रतिभा की प्रतिष्ठा जम चुकी हो और साथ ही वह रचना के नये सोपानों पर अग्रसर होता हुआ दिखाया जा सके। दूसरे उसके उठ जाने के कुछ पीढ़ियों बाद जब स्वयं उसके जीवन से सम्बद्ध राग-विराग, उत्साह और मात्सर्य शान्त हो चुके हों और सहृदय समालोचक-समाज उसके कृतित्व के विषय में एक विवेकपूर्ण और सन्तुलित मत निर्धारित कर चुका हो।

स्व० मैथिलीशरण गुप्त अभी दोनों कोटियों में से किसी में नहीं आते। प्रशंसा और सम्मान उन्हें अपने जीवन-काल में भरपूर मिला। 'राष्ट्रकवि' का उनका पद विवाद से परे रहा और इसके कारण वह जब-तब ईर्ष्या-भरे कटाक्षों के लक्ष्य भी रहे। आज भी ऐसे अनेक व्यक्ति जीवित हैं जिन्हें स्वयं उनके मुँह से उनका काव्य सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिनके कानों में उनकी खुली हँसी, उनके नागर व्यंग्य और उनके प्रत्युत्पन्न किन्तु चुटीले परिहास अभी तक गूँजते होंगे। संसद में उनकी आशु कवितामय टिप्पणियाँ भी अनेकों को याद होंगी। पर ये सब बातें इस अन्तराल में उनके काव्य-कृतित्व और यहाँ तक कि कभी-कभी उनके व्यक्तित्व को भी अधिक विवाद्य ही बनाती हैं; वैसा न भी कहें तो उनके मूल्यांकन में तो कदापि सहायक नहीं होतीं।

इसका एक सामान्य कारण तो वह प्रक्रिया है ही जिससे साहित्य के इतिहास के सभी अध्येता परिचित होंगे। **कवियों की कोई भी पीढ़ी अपने को अपने से तुरत पहले की पीढ़ी से सबसे अधिक दूर समझती है या समझना चाहती है;** भले ही वास्तव में संवेदनों, प्रवृत्तियों, लक्ष्यों और आग्रहों की दृष्टि से उनके बीच दूरी का आभास ही अधिक हो। स्वयं इस प्रक्रिया का कारण भी अध्येता के समक्ष प्रकट होगा। **क्योंकि कविता कविता में से निकलती है,** इसलिए प्रत्येक नये काव्य-आन्दोलन के लिए अपना पृथक् और विशिष्ट व्यक्तित्व स्थापित करने के लिए यह आवश्यक

* स्व० मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं के एक मरणोत्तर संकलन के लिए लिखी गयी।

हो जाता है कि वह अपने को अपने निकटतम पूर्ववर्ती से अधिक से अधिक अलग करना चाहे। इसीलिए वह उन समानताओं को अनदेखा करना चाहता है जो अधिक लम्बे परिदृश्य में सबको दीख सकेंगी, और उन मामूली भी विभेदों को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करता है जो एक तात्कालिक महत्त्व भले ही रखते हों, लम्बे परिदृश्य में नगण्य हो जायेंगे।

लेकिन स्व० मैथिलीशरण गुप्त के सम्बन्ध में यह सामान्य कठिनाई कुछ विशेष कारणों से और भी बढ़ जाती है। इन विशेष कारणों की ओर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि इनका केवल भविष्य के लिए नहीं, आज भी उनके काव्य को समझने, उसका रसास्वादन और मूल्यांकन करने में निर्णायक योग है। दूसरी ओर इन कारणों की उपेक्षा न केवल रसास्वादन और मूल्यांकन में बाधक होगी; वह गुप्त जी के काव्य के प्रति एक ऐसे अन्याय और पूर्वग्रह का आधार भी बन जायेगी जिसके परिणाम दूरव्यापी भी होंगे, चिरस्थायी भी।

गुप्त जी मेरे तो गुरुस्थानीय थे, इसलिए उनके काव्य के प्रति मेरा श्रद्धापूर्ण ममत्व होना स्वाभाविक है। पर मेरा विश्वास है कि उनके विशेष स्थान की सही समझ से हम उस अन्तराल को लगभग मिटा दे सकेंगे जिसका उल्लेख मैंने आरम्भ में किया है। उनकी **भारत-भारती** अथवा **जयद्रथ-वध** को जो सम्मान मिला उसे अतीत का अव्याख्येय अचरज या भविष्य में कभी सुलझ सकने वाली एक गुत्थी न मान कर हम आज की एक सार्थक और संगत उपलब्धि के रूप में ग्रहण कर सकेंगे। क्योंकि यह तो स्वीकार कर लेना चाहिए कि गुप्त जी जो कुछ थे—जिसके लिए उन्हें बीते कल इतना सम्मान मिला और जो आगामी कल फिर सम्मान्य होगा—वह सब-कुछ इस अधुनातन अन्तराल में अपेक्षया अवमूल्यित है। निःसन्देह यह अवमूल्यन किसी आत्यन्तिक कसौटी या मूल्य-दृष्टि के आधार पर नहीं है—न साहित्यिक, न सामाजिक, न सांस्कृतिक—बल्कि केवल एक चालू चरण है; वह परीक्षणीय वस्तु की उतनी नहीं जितनी स्वयं निकष की ही कसौटी करता है। पर इस बात को इसके कारणों सहित समझ लेना ही हमें सम्यक् मूल्यांकन के लिए सही आयाम दे सकेगा।

गुप्त जी की काव्य-दृष्टि और चेतना एक सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावाद की थी। उसका आधार उतना राजनीतिक नहीं जितना ऐतिहासिक था : वह स्थूल, स्पष्ट-निरूपित भावी लक्ष्यों से नहीं, एक सूक्ष्म अस्मिता-बोध से प्रेरित थी। और आज ऐसा कोई अस्मिता-बोध भारतीय समाज की प्रमुख अन्तःप्रेरणाओं में से एक हो, आज के अधिसंख्य भारतीयों को, विशेषतया भारत के कवियों को, भारतीयता का कोई दर्द सता रहा हो, ऐसा बिलकुल नहीं जान पड़ता। ऐसे में गुप्त जी की इस

प्रेरणा को आज सामान्य पाठक द्वारा उचित महत्त्व न दिया जाय तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इतना ही क्यों, इस परिमंडल में तो इस बात की ओर भी लोगों का ध्यान जाने से चूक जायेगा कि गुप्त जी की सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावादी दृष्टि स्वयं अपने समय में, यानी उनके जीवन-काल में कितनी विशिष्ट थी, यद्यपि उस समूचे युग को राष्ट्रीयतावादी काव्य का युग कहा जा सकता था। उनके समकालीन कवियों में अनेक थे जिनके राष्ट्रीयतावाद का आधार राजनीतिक था पर जो एक स्पष्ट राजनीतिक लक्ष्य—आज़ादी—पर अपनी इति मान लेता था। कुछ ऐसे भी थे जिनका राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक, ईश्वर-केन्द्रित आधार खोजता था। फिर कुछ ऐसे भी थे जिनमें संस्कृति का बोध और दर्द तो था लेकिन जिनकी दृष्टि प्रतिमुखी थी; जिनके लिए इतिहास केवल अतीत का गौरव था, न कि अतीत के प्रकाश में वर्तमान के (और वर्तमान की आग में अतीत के) अर्थ की खोज। गुप्त जी की राष्ट्रीयता उस युग में भी सांस्कृतिक दृष्टि से प्रेरित थी, ऐतिहासिक बोध से सम्पन्न थी, और मानव-केन्द्रित थी। तत्कालीन परिमंडल को ध्यान में रखते हुए यह कितनी बड़ी बात थी! हम चाहें तो कह सकते हैं कि 'यह तो उनके काव्य के ऐतिहासिक महत्त्व की बात हुई, आज उसकी क्या प्रासंगिकता है?' पर प्रासंगिकता के ही सन्दर्भ में उनकी इस विशेषता और अधुनातन रुझान (अथवा रुमान?) को बराबर-बराबर रखकर देखने से हमें सही मूल्यों के निर्धारण का आधार मिल सकेगा।

हमारा आलोच्य कवि राष्ट्रीयतावादी होकर मर्यादाप्रेमी वैष्णव भक्त कवि भी था; परम आस्तिक होते हुए मानवतावादी भी था। एक ओर महर्षि व्यास की तरह उपेक्षा के विरुद्ध हाथ उठा कर दर्द-भरी दुहाई दे सकता था कि **"हम कौन थे क्या हो गये हैं"** तो दूसरी ओर खुले दिल से स्वागत के हाथ बढ़ा कर यह भी कहता था कि **"मैं आगे आने वालों का जय-जयकार।"** प्राचीन का गर्व उसके लिए कभी नवीन के अभिनन्दन में बाधक नहीं हुआ; और आत्म-गौरव तथा औदार्य का यह अपूर्व योग केवल काव्य तक ही सीमित नहीं रह गया वरन् उसके व्यावहारिक जीवन को भी अनुप्राणित किये रहा। उसके जीवन-काल में उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति न जाने कितनी घटनाओं में इसका साक्ष्य पाते रहे होंगे। स्वयं स्लेट पर एक-एक छन्द लिखकर जोड़ने वाले इस कवि में बढ़िया झरना-कलम के लिए कैसी ललक थी (पर जेब में कलम रखकर भी वह स्वयं स्लेट पर खड़िया से लिखना ही पसन्द करता था); रहल पर पोथी बाँचने वाला कवि नये से नये मुद्रण यन्त्र में कितनी रुचि रखता था, और साग्रह देहात में रहते हुए वहीं पर टाइप ढालने की युक्तियाँ खोजने में कैसी सूझ का परिचय देता था!

यह अवसर संस्मरणों का नहीं है; पर जीवन तथा आस्थाओं का ऐसा सामंजस्य अनुल्लिखित नहीं रहना चाहिए। अवश्य ही काव्य में भी इस अविरोध का प्रतिबिम्ब मिलेगा; और मूल्यांकन में ऐसी समग्र दृष्टि का महत्त्व भी पहचानना चाहिए।

मैंने अभी पटिया पर छन्द लिखने का उल्लेख किया। यह बात सहज ही गुप्त जी की अवस्थिति की एक विशेषता की ओर ध्यान दिलाती है। जहाँ एक ओर इसे ध्यान में रखे बिना हम उनके काव्य के विशेष आस्वाद तक पहुँच ही नहीं सकते, वहाँ यह भी उतना ही सच है कि आज कदाचित् यही उसके आस्वादन में सबसे बड़ी कठिनाई है। **गुप्त जी वाचिक परम्परा के अन्तिम बड़े कवि थे।** वाचिक परम्परा उन्हीं पर समाप्त नहीं हो गयी; आज भी वह जीवित है और इसे हम देशी परम्परा का सौभाग्य भी मान सकते हैं कि उसकी प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष अनुभव हमारे लिए सम्भव है जबकि 'आधुनिक' संसार उन्हें समझने के लिए दूसरी संस्कृतियों की लोक-परम्पराओं तक जाने को बाध्य है। किन्तु देश में वाचिक परम्परा यद्यपि आज भी लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य दोनों में विद्यमान है, तथापि शिष्ट-साहित्य में उसका स्थान पूरी तरह पठ्य अथवा छपे हुए साहित्य ने ले लिया है। आज के काव्य को गुप्त जी तक के काव्य से जो गुण या विशेषता सबसे अधिक गहरे स्तर पर अप्रतिकार्य रूप से अलग करती है, वह यही है। हम एक सीमा का अतिक्रमण कर गये हैं जिसके पार से लौटना नहीं होता। अध्येताओं और आलोचकों ने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, भाषिक, नाना प्रकार के विवेचनों द्वारा उनके काव्य और आज के काव्य का अन्तर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, पर इस आधारभूत बात को अभी तक उचित महत्त्व नहीं दिया गया कि वाचिक से मुद्रित तक का संक्रमण काव्य-यात्रा का केवल एक पड़ाव नहीं है बल्कि वह काव्य के स्वभाव में एक परिवर्तन है; सम्प्रेषण की एक नयी स्थिति और एक नयी प्रक्रिया है, स्रष्टा और सामाजिक के बीच एक नये रिश्ते का आरम्भ है। कवि 'लेखक' बनता है तो समाज 'जनता' बन जाता है, **'आडिएंस'** अथवा श्रोता-मंडली **'पब्लिक'** अथवा पाठक-समूह में परिवर्तित हो जाता है : प्रत्यक्ष आविर्भाव के बदले सायास उपलब्धि अपेक्षित होती है। कवि और पाठक के बीच छपी हुई पुस्तक मानों एक दीवार के रूप में खड़ी हो जाती है; छपे हुए शब्द अर्थ पर एक (चाहे हल्का ही) परदा डाल देते हैं। काव्य एक जीवन्त अनुभूति नहीं रहता जिसका श्रवण के दौरान ही अवतरण होता हो, वह एक संचित वस्तु रह जाता है जो अनपढ़ा भी पुस्तक में रहा चला जाता है।

इस आमूल स्वभाव परिवर्तन की प्रक्रिया का ब्योरा यहाँ अपेक्षित नहीं है। पर उस परिवर्तन की तथ्यता को ध्यान में रखना आवश्यक है। मैंने कहा कि

गुप्त जी की यह विशेषता आज उनके काव्य के आस्वादन में कठिनाई पैदा करती है, पर इसी में यह भी निहित है कि जो निष्ठावान् अथवा धैर्यवान् पाठक उससे पार पा लेगा उसके लिए गुप्त जी का काव्य एक अपूर्व निधि साबित होगा। यह कहना कि गुप्त जी वाचिक परम्परा के अन्तिम बड़े कवि थे, वास्तव में यही कहना है कि परिवर्तन की एक भारी खाईं के पार हमें ले जाने देने वाले सेतु भी वही थे, अथवा रूपक बदल कर कहें कि हमें पार ले ले जाने वाले कर्णधार वही थे। उन्हीं को समझकर हम अपनी काव्य—परम्परा के साथ जुड़ सकते हैं। नहीं तो हमारा 'आधुनिकता' का दावा भी परिदृश्यहीनता के कारण निरर्थक हो जाता है।

मैंने आरम्भ में कहा कि हम अपने निकटतम पूर्ववर्तियों से अपने को अलग करने का विशेष आग्रह करते हैं। यह आग्रह वास्तव में उनके प्रति अपने ऋण-बोध का ही प्रतीप स्वीकार होता है। आधुनिक मुहावरे में हम पितृ-प्रतिमा (**फ़ादर इमेज**) और मूर्ति-भंजन की बात करते हैं : पितृ-प्रतिमा तोड़ने का उपक्रम आनुवंशिकता की पहचान है; वह पहचान प्रतिरोध से भी आरम्भ हो तो भी जब स्वीकार तक पहुँचती है तभी मूल्यांकन सार्थक होता है। जहाँ तक मेरा अपना प्रश्न है, गुप्त जी को गुरु स्थानीय मानते रहने से यह तनाव-भरा संकट मेरे सामने तो नहीं आया—या उनके प्रसंग में नहीं आया और उनके काव्य ने उस भारी परिवर्तन को समझने में मेरी सहायता ही की जिसका मैंने उल्लेख किया है। लेकिन तार्किक आधार पर भी मुझे इसकी आशंका होती, और प्रत्यक्ष अनुभव से भी यह मैं जानता हूँ, कि आज अनेक युवतर कवियों को मैथिलीशरण गुप्त का काव्य उतना ही अनास्वाद्य जान पड़ता है जितना युवतर कहानी या उपन्यास-लेखकों को प्रेमचन्द का कथा-साहित्य। और मैं मानता हूँ कि ऐसी धारणाएँ इन युवतर प्रतिभाओं के विकास और उनके मानसिक क्षितिजों के विस्तार में बाधा ही बनती हैं। मेरा विश्वास है कि यहाँ मैंने काव्य-प्रक्रिया के और गुप्त जी के विशेष स्थान और महत्त्व के बारे में जो कुछ कहा है, उससे उनके काव्य के रसास्वादन की प्रणालियाँ प्रशस्त ही होंगी। यदि यह विश्वास निराधार नहीं है तो जो संकेत मैंने दिये हैं वे प्रस्तुत संग्रह को सभी के लिए आस्वाद्य बनाने में सहायक तो होंगे ही, पाठक के लिए एक स्थायी महत्त्व के और संवेदन को समृद्ध करने वाले अनुभव का मार्ग भी प्रशस्त करेंगे। और कोई भी भूमिका इससे अधिक क्या कर सकती है?

प्रस्तुत संग्रह **स्वस्ति और संकेत** स्व० मैथिलीशरण गुप्त के काव्य की इन सभी विशेषताओं के उदाहरण और प्रमाण प्रस्तुत करता है। यह संग्रह किसी एक

काल की रचनाओं का नहीं है, यद्यपि इसकी अनेक कविताएँ कारा-जीवन के दौरान लिखी गयीं। यह ऐसी कविताओं का एक चयन है जो अभी तक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो पायी थीं। कुछ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपी थीं और कुछ ऐसी भी हैं जिनका यह पहला प्रकाशन है। इस दृष्टि से इस चयन का प्रकाशन एक साथ ही ऐतिहासिक महत्त्व भी रखता है और एक नयापन भी। इसका आज प्रकाशन नये प्रकाशक के लिए जितने सन्तोष और गर्व का विषय है उतना ही मेरे लिए गौरव का भी कि मुझे इसकी भूमिका लिखने का सुयोग मिला है। दूसरी ओर यह हमारे लिए समान वेदना का भी आधार है कि इस चयन का प्रकाशन कवि के जीवन काल में नहीं हो सका—यद्यपि प्रकाशन के लिए इसकी पांडुलिपि उन्होंने तैयार कर दी थी। यह विलम्ब किन कारणों से हुआ उनका भी एक इतिहास है। लेकिन उसके ब्योरे में जाना भी इस समय अनावश्यक है। हमें यही आशा करनी चाहिए कि स्व० गुप्त जी की अनेक अप्रकाशित रचनाओं के पुस्तकाकार प्रकाशन में आयी हुई बाधाएँ अब सदा के लिए दूर हो गयी हैं और अब वे रचनाएँ क्रमशः प्रकाशित होकर पाठकों के सामने आती जायेंगी।

स्वस्ति और संकेत की कविताएँ यद्यपि पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुई थीं तथापि उनमें कई ऐसी कविताएँ हैं जो पत्रों में प्रकाशन के बाद से ही लोगों के मन में बस गयी हैं और जो अपनी मर्मस्पर्शिता के कारण बार-बार दूसरे संकलन-ग्रन्थों में उद्धृत होती रहीं। इस तरह के फुटकर प्रकाशन से यद्यपि वे कविताएँ बहुत से लोगों के स्मृति-भंडार का अंग तो हुईं, तथापि उनके अलग-अलग प्रकाशन के कारण उन्हें एक साथ देख कर कवि की विभिन्न प्रवृत्तियों का परिचय पाने में बाधा होती रही। अब यह संग्रह एक बार फिर उनकी रचना-प्रवृत्तियों के वैविध्य की ओर ध्यान दिलायेगा। उत्तर काल में कवि लोक-काव्य की ओर भी आकर्षित हुए थे और बुन्देलखण्डी लोक गीतों के छन्दों और धुनों में उन्होंने रचनाएँ की थीं—इतना ही नहीं, दूसरे छन्दों में लिखी गयी कुछ कविताओं को उन्होंने ऐसे छन्दों में रूपान्तरित भी कर दिया था। ऐसी रचनाओं के कुछ उदाहरण भी यहाँ पहली बार संगृहीत हैं। राष्ट्रीयता और देशप्रेम के गीतों की परिणति **'विजय पताका फहरे'** जैसे गीतों में हुई थी; वे भी यहाँ मिलेंगे; भविष्य का एक सपना प्रस्तुत करने वाली कविता **'विश्व राज्य'** भी यहाँ संकलित है। कला की मार्मिक परिभाषा करने वाली **'कला'** शीर्षक कविता के साथ-साथ लोक धुनों से प्रेरित **'लेद'** भी यहाँ है। मार्मिक संवेदन से थोड़ी देर के लिए अवसन्न कर देने वाली छोटी सी कविता **'अब वे बासर बीत गये'** भी इस संग्रह में आ गयी है। मान सकते हैं कि ये सभी 'संकेत' हैं। जहाँ तक 'स्वस्ति' भाव का प्रश्न है, गुप्त

जी का वैसा मनोभाव समस्त मानव जाति के प्रति आरम्भ से ही था और स्वयं इस संग्रह के प्रकाशन को उनकी ओर से स्वस्ति-वाचन के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। वह स्वयं आज हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन जिसकी कविता हममें एक स्वस्ति भाव उत्पन्न करती है उसकी जीवित उपस्थिति के संस्पर्श से कोई सहृदय अछूता नहीं रह सकता।

सावन तीज, सं० २०३६

मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' के लिए

यशोधरा काव्य के बारे में कुछ लिखने की इच्छा वर्षों से रही, लेकिन यह नहीं सोचा था कि वह लिखना पुस्तक के नये संस्करण की भूमिका के रूप में होगा। यह अवसर मुझे मिला, यह तो मेरे लिए गौरव की बात है।

मेरी पीढ़ी के काव्य पढ़ने वाले सभी लोगों का काव्य से परिचय मुख्यतया मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं के माध्यम से ही हुआ होगा। काव्य सम्बन्धी उनके संस्कार गुप्त जी की रचनाओं से ही बने होंगे। इतना ही क्यों, बहुत से पाठकों को तो गुप्त जी की रचनाएँ ही एक बार फिर भारतीय साहित्य परम्परा के मूल स्रोत **रामायण** और **महाभारत** की ओर ले गयी होंगी और बहुतों के लिए तो देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना की जड़ें भी गुप्त जी की काव्य-धारा ने ही सींची होंगी। जहाँ तक मेरा अपना प्रश्न है, अक्षर-ज्ञान के कुछ ही दिन बाद मैं उनकी—

वे राम हम हैं, श्याम हम हैं
बाल ही गोपाल हैं
निज मातृभूमि स्वदेश के
गोदी-भरे हम लाल हैं।

जैसी रचनाओं से राम, श्याम और मातृभूमि के प्रेम की दीक्षा पाने लगा था **रामायण** की पूरी कथा माता-पिता से सुनने को मिली; **महाभारत** की कथा उस रूप में पूरी कभी नहीं सुनी—यों तो वह कथा पूरी कभी सुनायी भी नहीं जाती—लेकिन गुप्त जी के **जयद्रथ-वध** जैसे काव्य कई बार सुने और कल्पना के सहारे उन पर आधारित जो संसार स्वयं रचा उसके चरित्र बार-बार यह जिज्ञासा जगाते रहे कि 'उनके जीवन में और क्या घटित हुआ?' और इस प्रकार खंडकाव्यों के सहारे ही **महाभारत** की पूरी कथा की न जाने कितनी आवृत्तियाँ मेरे भीतर होती रहीं।

उस युग की चित्रकला ने भी इस आवृत्ति में, और परम्परा की जड़ें गहरी जमाने में, योग दिया। दक्षिण के राजा रवि वर्मा तथा महाराष्ट्र के एम० वी० धुरन्धर के बड़े-बड़े रंगीन चित्र बार-बार किशोर मन में प्रश्न उठाते थे कि उनमें चित्रित कथा-प्रसंग से जुड़ी हुई पूरी कथा क्या है; उधर बंगाल की पुनर्जागरण शैली के चित्र रामायण-महाभारत की कथा के साथ बुद्ध-कथा और फिर प्राचीन

इतिहास के अनेक प्रसंग जोड़ती हुई परम्परा के बोध को और पुष्ट करते थे। अब तो चित्रकला में कथा-प्रसंग बिलकुल बहिष्कृत ही हो गये हैं—ऐसी चित्रकला को नीच और परोपजीवी 'दृष्टान्त कला' कह कर उसकी खिल्ली उड़ायी जाती है। (इसी प्रवृत्ति का एक समान्तर विकास काव्य में भी है—कथा-प्रसंग वहाँ भी असम्भव हो गया है यद्यपि मिथक की उपयोगिता के बारे में एक नयी जिज्ञासा वहाँ लक्षित होती है।)

गुप्त जी के युग की चित्रकला का उल्लेख प्रसंगान्तर जान पड़ता है, लेकिन वास्तव में है नहीं, क्योंकि बात मुझे कथा-प्रसंग की ही करनी है। दूसरे सन्दर्भों में मैंने गुप्त जी को 'वाचिक परम्परा का अन्तिम महत्त्वपूर्ण कवि' भी कहा है; वाचिक परम्परा में जहाँ काव्य के लिए एक प्रत्यक्ष समाज को रस-स्थिति में ले आने का लक्ष्य रहता था, वहाँ इसी उद्देश्य के लिए प्रसिद्ध कथाओं का प्रयोग भी बराबर होता था—इसे उचित भी माना जाता था और वह अपेक्षित भी होता था। सामाजिक अथवा श्रोता वर्ग समग्र कथा से परिचित न भी हो तो भी अनेक कथा-अभिप्रायों से परिचित होता था और ये अभिप्राय कवि के लिए एक सेतु का काम करते थे (या एक दूसरा रूपक अधिक उपयुक्त जान पड़े तो कह लीजिए कि एक नौका का काम करते थे। वास्तव में तो सबसे उपयुक्त रूपक नौकाओं के पुल का ही होगा जिसमें से नावें जब-तब खोल कर अलग-अलग भी पार जाने के काम में लायी जा सकती थीं और नावों की श्रृंखला से बना हुआ पूरा पुल भी काम में आता ही रहता था।) गुप्त जी के काव्य के सन्दर्भ में हम अगर एक तरफ़ **साकेत** अथवा **जयभारत** को लें, जो रामायण और महाभारत की समग्र कथा अपने ढंग से कहते हैं, और दूसरी ओर इन्हीं दोनों महद्ग्रन्थों से लिये गये अनेक छोटे-छोटे वृत्त-काव्यों को रखें, तो स्थिति कुछ स्पष्टतर हो जायेगी। वाचिक स्थिति का कवि अपने सामाजिक के साथ अपने सम्बन्ध का और दोनों पक्षों की साझा पूँजी का दोनों तरह उपयोग करता था : अलग कथा अभिप्रायों के सहारे श्रोता तक पहुँच कर भी और समग्र कथा कह कर भी। एक छोर पर एक-एक अभिप्राय पर खड़े किये गये छोटे से छोटे मुक्तक थे—प्राकृत अथवा अपभ्रंश की गाथाओं से लेकर बिहारी के दोहों तक—और दूसरे छोर पर समग्र राम कथा, महाभारत अथवा श्रीमद्भागवत-कथा; और उत्तर काल में बुद्ध-चरित आदि। एक ओर वृहत्तर समाज से जीवित सम्पर्क बनाये रखने वाले मुक्तक काम आते थे जिनके लिए एक छोटा-सा अभिप्राय अथवा 'कवि-समय' की साझेदारी भी पर्याप्त होती थी; दूसरी तरफ़ महाकवि का पद पाने के लिए महाकाव्य की रचना आवश्यक थी—और महाकाव्य की माप केवल रामायण अथवा महाभारत के मानदंड

से हो सकती थी।

गुप्त जी के **साकेत** की रचना का प्रेरणा-स्रोत उर्मिला का चरित्र था, इसका उल्लेख तो उन्होंने स्वयं बार-बार किया है। **यशोधरा** अपने अनुज को समर्पित करते हुए भी उन्होंने लिखा : "राहुल-जननी के दो-चार आँसू भी तुम्हें इसमें मिल जायें तो बहुत समझना। और उनका श्रेय भी साकेत की उर्मिला देवी को ही है जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।" रामचरित की उपेक्षिता लक्ष्मण-भार्या उर्मिला का बुद्ध-चरित की उपेक्षिता सिद्धार्थ-भार्या यशोधरा के चरित्र की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था :

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ गुप्त जी की चिन्तन-धारा के एक पक्ष को उजागर करती हैं जिसके बारे में वह यों भी लगातार लिखते आये। लेकिन काव्य-रचना की दृष्टि से सीता के अनन्तर यशोधरा का चरित्र उठाया जाना जितना सहज और स्वाभाविक लगता है, रूपाकार की दृष्टि से **साकेत** के उपरान्त **यशोधरा** उतना ही विलक्षण। जिस अर्थ में मैथिलीशरण गुप्त वाचिक परम्परा के अन्तिम महान् कवि थे उसी अर्थ में **साकेत** भी उस परम्परा का अंतिम महान् ग्रन्थ है; और जिस तरह गुप्त जी 'आगे आने वालों का जय-जयकार' करते हुए एक रचना-दृष्टि से दूसरी रचना-दृष्टि के स्वीकरण का मार्ग बनाते रहे, उसी तरह **यशोधरा** भी एक युगान्तर का उन्मेष करती है। **साकेत** भी एक प्रसिद्ध कथावस्तु लेकर लिखा गया है और यशोधरा भी; लेकिन **साकेत** में कथा कही गयी है और **यशोधरा** में मानो पूरी तरह निहित हो गयी है—वृत्तान्त उसमें लगभग नहीं है और वहाँ थोड़ा-सा है भी वहाँ भी उसे यथासम्भव नाटकीय संवाद का रूप देकर ओझल करने का ही प्रयत्न किया गया है। यह कितना बड़ा परिवर्तन है, इसे ठीक-ठीक पहचाने बिना हम न **यशोधरा** का सही मूल्यांकन कर सकते हैं, न गुप्त जी के काव्य का, और न उनके काव्य-विकास को हिन्दी काव्य-रचना के इतिहास में उसका सही स्थान दे सकते हैं।

निःसन्देह इस परिवर्तन की ओर ध्यान जाने पर हम यह भी लक्ष्य करेंगे कि इसका आरम्भ वास्तव में **साकेत** में ही हो गया था। **साकेत** के नवम सर्ग में ही उस परिवर्तन के अंकुर स्पष्ट दीखते हैं। यों तो **साकेत** का नवम सर्ग भी एक तरह से महाकाव्य की परम्परा का निर्वाह करता है : पूरा सर्ग उर्मिला की लम्बी विरहावस्था का चित्र है। यह भी ध्यान में रखना होगा कि राम-लक्ष्मण के बनवास की लम्बी अवधि पार करने की एक युक्ति भी इस प्रकार

कवि को मिल जाती है। **साकेत** का नवम सर्ग केवल महाकाव्य परम्परा का विरह-वर्णन नहीं है, वह विरह-विलाप के चौदह वर्ष बीतने का ब्यौरा भी है। इस दृष्टि से यह सर्ग परम्परा का निर्वाह करता हुआ भी कथा कहने की—काल की गति दर्शाने की—एक नयी युक्ति प्रस्तुत करता है। **साकेत** के नवम सर्ग के निमित्त से मिली हुई इस नयी युक्ति का भरपूर प्रयोग गुप्त जी **यशोधरा** में करते हैं और इस प्रकार महाकाव्य की परम्परा को झकझोर कर तोड़ते हुए भी उस परम्परा के साथ जुड़ जाते हैं—स्वयं भी जुड़ जाते हैं और दूसरों के जुड़े रहने के लिए रास्ता भी खोल देते हैं।

कथा 'घटना' है और घटना 'काल में घटित' होती है। यह बात तो सनातन काल से जानी हुई थी। उस काल के कई आयाम होते हैं—इसका बोध भी कथा कहने वाले को सनातन काल से था। लेकिन कथा केवल घटनाओं का चित्र नहीं है; चरित्र चित्र नहीं है, वह अपने आप में **काल की गति का भी एक चित्र है** : यह बोध नया है : इसे हम 'आधुनिक काल बोध' कह सकते हैं। और आधुनिक काल बोध पुराने ढंग की क्रम-कथा को असम्भव बना देता है। कहानी तक में असम्भव बना देता है, कविता की तो बात ही क्या। गुप्त जी की युग-दर्शिता इसी बात में रही कि उन्होंने काल से इस बदले हुए सम्बन्ध को पहचानते हुए उस परिवर्तन को अपनी रचना में भी ढाल दिया। यह परिवर्तन इतने सहज और अलक्षित ढंग से हुआ कि साहित्यालोचकों ने भी इसकी ओर ध्यान नहीं दिया या दिलाया। यह गुप्त जी की प्रतिभा का ही एक और प्रमाण है। **साकेत** की बहुत चर्चा हुई, उसके नवम सर्ग की भी बहुत चर्चा हुई और **यशोधरा** के मुख-पृष्ठ पर दी गयी दो पंक्तियाँ तो मानों हिन्दी के लोक-मानस में बस गयीं। लेकिन काल के साथ सम्बन्ध बदल कर पारम्परिक संवेदन से आधुनिक संवेदन में प्रवेश कर जाने में गुप्त जी की पहल का उल्लेख शायद ही किसी आलोचक ने किया है।

इस युगान्त संक्रमण का श्रेय गुप्त जी को देते समय एक जिज्ञासा मन में उठेगी। **यशोधरा** में प्रसिद्ध कथा को प्रस्तुत करते समय उसके प्रसिद्ध होने का भरपूर लाभ उठाया गया है : कथा कहना कहीं भी आवश्यक नहीं समझा गया और चरित्रों की मनोदशाएँ क्रम में रख कर ही कथा कह दी गयी है। अर्थात् घटनाओं का क्रम वहाँ नहीं है, मनोदशाओं के क्रम से ही घटना निरूपित होती गयी है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि **घटना-संसार का आभ्यन्तरीकरण** हो गया है : आभ्यन्तर घटना अथवा मनोदशाओं और मनःसंवेगों के सहारे ही

आगे बढ़ते हुए हम फिर से एक बाह्य संसार की रचना करते चल सकते हैं। घटना का यह आभ्यन्तरीकरण भी आधुनिक प्रवृत्ति और लक्षण है। लेकिन इसमें पहल करने का श्रेय मैथिलीशरण गुप्त को देना क्या ऐतिहासिक दृष्टि से सही है? क्या सूरदास की पदावली भी वृत्तहीन कथा नहीं कहती—क्या सूरदास के पद भी विभिन्न मनोदशाओं और स्थितियों के चित्रण के द्वारा कथा नहीं कहते और क्या उनमें भी प्रसिद्ध कथा के प्रसिद्ध होने का पूरा लाभ नहीं उठाया गया है?

यशोधरा की पृष्ठभूमि में **सूरसागर** का अथवा गुप्त जी की पृष्ठभूमि में सूरदास का स्मरण सर्वथा संगत होगा। लेकिन संगति जहाँ उनकी समानताएँ सामने लायेगी, वहाँ कथा कहने की दो पद्धतियों का अन्तर भी स्पष्टतर कर देगी। सूर की पदावली में कृष्णलीला का बखान किया गया है; अगर यह भी मान लें कि सूर के पद कृष्णलीला की केवल फुटकर झाँकियाँ प्रस्तुत करने के लिए नहीं थे, वरन् उनमें पूरा कृष्ण चरित आ गया है, तो भी ऐसा तो नहीं जान पड़ता कि सूरदास ने क्रम से पूरा कृष्ण-चरित लिखने की योजना के अन्तर्गत लीला वर्णन के पद रचे थे। पूरी कथा उनके सामने थी और यह मानना ग़लत है कि वह केवल बाल लीला का चित्रण कर रहे थे; लेकिन संरचना की दृष्टि से सूर के पदों का स्वभाव बिलकुल भिन्न है क्योंकि वहाँ पर प्रत्येक पद स्वतः सम्पूर्ण है और वहाँ यह भी अभीष्ट है कि एक ही पद में वर्णित लीला श्रोता (अथवा लीला रूप प्रस्तुत होने पर दर्शक) को रसावस्था तक पहुँचा सके। पदों को क्रम से रख कर पूरा चरित मिल सकता है, यह बात गौण हो जाती है। दूसरी ओर **यशोधरा** एक समग्र रचना है और सर्जक कल्पना ने उसे समग्र रूप में ही देखा और निरूपित किया है। उसके अलग-अलग संवाद स्वायत्त नहीं हैं; न यह अभीष्ट है कि उन्हें इस रूप में ग्रहण किया जा सके। इसीलिए सूर के पद एक पदावली के अंग हैं और **यशोधरा** एक इकाई है। **सूरसागर** स्थिर चित्रों की एक विशाल चित्रवीथी है; **यशोधरा** राग-बिम्बों का एक चलच्चित्र है। यहाँ यह भी ध्यान दिला देना अनुचित न होगा कि साहित्य-क्षेत्र में संरचना की परिकल्पना और चर्चा भी आधुनिक बोध का अंग हैं और आधुनिक काल बोध से जुड़े हुए हैं: पारम्परिक काव्य में संरचना का महत्त्व नहीं था और प्राचीन आचार्यों ने उसकी चर्चा भी नहीं की है।

साकेत और **जयभारत** की रचना के दौरान भी गुप्त जी के मन में इसका एक स्पष्ट चित्र था कि उन्हें और कौन-कौन से चरित्र काव्य में उठाने हैं। **यशोधरा** की रचना तक यह चुनाव और भी स्पष्ट हो गया था और उनका संकल्प

भी दूसरा। अधिकतर नये चरित्र नारी चरित्र ही थे, यह भी गुप्त जी की आधुनिक युग-बोध के साथ चलने के अद्भुत सामर्थ्य का ही एक पहलू है। इतिहास में कुछ नारी चरित्र उपेक्षित रह गये, इसकी चर्चा तो द्विवेदी युग में ही काफ़ी होती रही थी और परम्परा की उपेक्षिताओं की ऐसी सूची बन गयी थी कि अब उन्हें उपेक्षिता कहना लगभग अर्थहीन हो चला था। लेकिन इतिहास की उपेक्षिताओं को मानने लगना ही काफ़ी नहीं है : भारतीय समाज में पिछली तीन-चार शतियों में नारी के प्रति बढ़ती हुई उपेक्षा और अन्याय के प्रति भी लोगों को सजग करना होगा, ऐसा गुप्त जी सोचते थे। नया युग नारी के भी नये उत्कर्ष का युग होगा यह वह मानते थे। और यद्यपि उनके परवर्ती काव्य में किसी विचारधारा के प्रचार की वैसी प्रवृत्ति नहीं है जैसी आरम्भिक काव्यों में थी, तथापि यह तो उनका दृढ़ विश्वास अन्त तक रहा ही कि जो वह सही मानते हैं उसके प्रति अनुकूल भाव जगाने का कार्य उनके काव्य को सहज ही करना चाहिए।

जिन नारी पात्रों की ओर गुप्त जी का ध्यान गया था उन सबको अपने काव्य में ले आने की गुप्त जी की योजना पूरी नहीं हुई : कौन कवि अपनी समस्त योजनाएँ पूरी कर पाता है ? लेकिन जो चरित्र गुप्त जी हमें दे गये—जिनमें **यशोधरा** और **विष्णुप्रिया** प्रमुख हैं—वे इस बात का प्रमाण हैं कि गुप्त जी आदि कवि की समवेदना और करुणा की धारा को आधुनिक युग तक ले आये। वाल्मीकि ने करुणा को तेजस्विता से पुष्ट कर के क्रौंच-वधू के दुःख को एक शाश्वत और सार्वभौम आयाम दे दिया था; मैथिलीशरण गुप्त के सात्विक वैष्णव भाव ने नारी मात्र की स्थिति का एक नया बोध करा कर हमारी करुणा को एक ऐसा युगीन संस्कार दिया जिससे वह आज के अत्यन्त निष्करुण यन्त्र समाज में भी हमें मनुष्य बनाये रख सकता है।

● ●

सर्जना के क्षण

यों तो काव्य-संकलन के लिए कोई भी भूमिका अपेक्षित नहीं होती; अधिक से अधिक संकलनकर्ता की ओर से इस बात का ब्योरा अपेक्षित हो सकता है कि चयन का आधार क्या रहा। फिर स्वयं कवि से, जिसने अपने संग्रहों के पहले प्रकाशनों में भी अपनी ओर से कुछ कहना अनावश्यक समझा, एक चयन-ग्रन्थ में भूमिका क्यों चाही जाय? फिर भी परिस्थितियों के योग ने मुझ पर यह बोझ भी डाल दिया है और यह सुयोग भी दे दिया है कि प्रस्तुत चयन के बारे में नहीं, अपनी रचनाओं के बारे में भी उतना नहीं, पर आज के समाज में कवि-कर्म की समस्याओं के बारे में कुछ विचार पाठक के समक्ष रखूं। यह भूमिका उन्हीं का परिणाम है। मुझे आशा है कि पाठक इसे उपयोगी पायेगा और यहाँ प्रस्तुत किये गये विचार उसे आज की कविता को समझने और उसका आस्वादन करने में सहायक होंगे।

हमारे समय की कविता को समझने के लिए—मैं तो कहूँगा कि किसी भी समय की कविता को समझने के लिए—यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम जानें कि काव्य 'अभिव्यक्ति' से भी अधिक 'सम्प्रेषण' है, और सम्प्रेषण की स्थितियों के सन्दर्भ में ही यह पड़ताल करें कि कविता क्या है। सम्प्रेषण की स्थितियों को समझे बिना काव्य का मूल्यांकन तो दूर, सही अर्थ-ग्रहण भी नहीं हो सकता : उसका कथ्य भी ठीक-ठीक नहीं पहचाना जा सकता। सरलतर ढंग से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि बिना यह जाने कि जो कुछ कहा गया है, वह किस परिस्थिति में किस के लिए कहा गया है उसका अर्थ या आशय ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, उसका महत्त्व पहचानना तो दूर की बात हो जाता है।

फिर यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह बात केवल सम्प्रेषण का सिद्धान्तगत आग्रह नहीं है। यह 'अभिव्यक्ति' बनाम 'सम्प्रेषण' के मुकद्दमे का एक फ़ैसला भी नहीं है। 'सम्प्रेषण की स्थितियों' पर बल देने का कारण यही है कि वे परिस्थितियाँ लगातार बदलती रहती हैं और उस बदलाव का गहरा असर रचना-कर्म पर और कविता के स्वभाव पर पड़ता है। सामाजिक परिवेश पर इधर की समीक्षा में बहुत बल दिया गया है, और वह सही भी है। पर सामाजिक परिवेश केवल आर्थिक सम्बन्धों का दूसरा नाम नहीं है, उससे व्यापकतर

चीज है। मानवीय रिश्ते भी अत्यन्त महत्त्व के हैं—पर सामाजिक रिश्ते भी आर्थिक रिश्तों से अधिक व्यापक और अधिक गहरे स्तर पर प्रभाव रखने वाले हैं। कवि-कर्म के लिए इनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष वही है जिसे मैंने सम्प्रेषण की स्थितियाँ कहा है। कवि भी नागरिक है, पर हर नागरिक कवि नहीं होता; इसलिए कवि-कर्म की चर्चा करते समय अन्य नागरिक उत्तरदायित्वों का उल्लेख न करने का यह मतलब नहीं है कि कवि उनसे मुक्त है; आशय यही है कि सामान्य उत्तरदायित्वों से आगे कवि पर कवि होने के नाते जो विशेष उत्तरदायित्व आते हैं उन पर ज़ोर दिया जाय। और सम्प्रेषण की बदलती परिस्थितियाँ इनके केन्द्र में हैं। भाषा-व्यवहार एक साधारण और अपरिहार्य नागरिक कर्म है—बिना एक-दूसरे से बात किये मानव समाज रह ही नहीं सकता। पर काव्य-सम्प्रेषण न केवल भाषा-व्यवहार नहीं है; वह भाषागत व्यवहार का इतना विशिष्ट पहलू है कि साधारण भाषा-व्यवहार वहाँ लगभग-अप्रासंगिक हो जाता है। 'लगभग' इसलिए कि उसके अप्रासंगिक हो जाने पर भी कवि-कर्म का भाषा से सम्बन्ध कभी नहीं टूटता, न ही भाषा-व्यवहार से उसके सामने आने वाली समस्याओं से उसे कभी छुटकारा मिल सकता है।

हमारे देश में काव्य की परम्परा वाचिक रही। यों तो संसार में सर्वत्र ऐसा रहा, पर आधुनिक पश्चिमी देशों में छापे का और साक्षरता का प्रसार बहुत पहले हो जाने से वहाँ वाचिक काव्य-परम्परा बहुत पहले नष्ट हो गयी, जबकि भारत में काव्य का सम्प्रेषण और ग्रहण बीसवीं सदी के आरम्भ तक भी मुख्यतया वाचन और श्रवण पर आधारित रहा। आज भी देश का दो-तिहाई निरक्षर है—कुछ प्रदेशों में यह अनुपात तीन-चौथाई या उससे भी अधिक है—पर यह निरक्षर समाज भी परम्परा-रहित या काव्य-संस्कार-रहित नहीं है; बल्कि ऐसे भी उदाहरण मिल जायेंगे जहाँ निरक्षर किन्तु संस्कारी श्रोता, साक्षार किन्तु परम्परानभिज्ञ पाठक की अपेक्षा काव्य की अधिक अच्छी समझ रखता है और उसके प्रति अधिक संवेदनशील है।

पर अपवादों की ओर न जाकर मुख्य तर्क का ही अनुसरण करें। वाचिक परम्परा में सम्प्रेषण की एक परिस्थिति रही जो सम्पूर्णतया कविकर्म की नियामक रही : वाचिक परम्परा में काव्य का ग्रहण अनिवार्यतया सामाजिक अथवा सामूहिक रूप से होता था और श्रवण द्वारा होता था। कविता अकेले बैठकर पढ़ने की चीज नहीं थी, इकट्ठे बैठकर सुनने की चीज़ थी। और सम्प्रेषण की इस सामाजिक परिस्थिति में श्रोता-सहृदय की प्रतिक्रिया तत्काल कवि तक पहुँच जाती थी क्योंकि दोनों परस्पर-प्रत्यक्ष होते थे।

कविता की छपाई ने यह सब बदल दिया। प्रत्यक्ष श्रोता (या कवि) का स्थान अप्रत्यक्ष पाठक (अथवा लेखक) ने ले लिया : सुनने वाले 'समाज' के बदले पढ़ने वाली 'पब्लिक' आ गयी; प्रत्यक्ष संवाद के बदले परोक्ष प्रभाव महत्त्वपूर्ण हो गया। आस्वाद-प्रतिक्रिया के बदले आलोचकीय मूल्यांकन की प्रतीक्षा होने लगी (और वह होगा ही इसका कोई भरोसा न रहा)।

हिन्दी में यह बीसवीं सदी में ही हुआ : मेरा बाल्य-काल इसी संक्रमण का काल था। मैंने वाचिक अथवा श्रुति-परम्परा के अन्तिम बड़े कवियों का काव्य सुना—बल्कि काव्य की दीक्षा मैंने उन्हीं से पायी—पर जब स्वयं लिखने लगा तो मेरी रचना श्रोता-समाज के लिए नहीं थी, नये पाठक-समुदाय के लिए थी। मेरे गुरु-स्थानीय स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त अपनी अर्थात् वाचिक परम्परा के अन्तिम महाकवि थे : उनका शिष्य मैं जब लिखने लगा तो नयी रचना-स्थिति के तर्क को पूरी तरह स्वीकार करके; और यह जान-मान करके कि नयी रचना-स्थिति को, नयी सम्प्रेषण-स्थिति के नियामक प्रभाव को पूरी तरह स्वीकार कर के ही 'आधुनिक' कवि हुआ जा सकता है—फिर वह आधुनिकता चाहे जितनी कठिनाइयाँ अपने स्वीकार के साथ लाये।

इस निरूपण से यह ध्वनि होती है कि गुप्त जी पारम्परिक कवि थे और 'अज्ञेय' आधुनिक कवि हैं। इसे मैं झूठ तो नहीं समझता; पर इससे जो भ्रान्त उपपत्तियाँ हो सकती हैं उनका खंडन आवश्यक समझता हूँ। जो कवि अपने को 'आधुनिक' कहते या मनवाना चाहते हैं उनके लिए 'पारम्परिक' एक अवहेला-सूचक विशेषण होता है; मेरे लिए वैसा कदापि नहीं है। वाचिक स्थिति पारम्परिक स्थिति थी; उसका कवि उसी में रहकर अपना सम्प्रेषण-धर्म निबाह सकता था। इसलिए इस अर्थ में पारम्परिक होना न केवल दोष नहीं था बल्कि अपने सामाजिक रिश्ते की सही पहचान की और कवि-कर्म का सही निष्पादन था। दूसरे, यह भी उल्लेख्य है कि यह परिवर्तन न तो एक सीधी छलांग में सम्पन्न हो गया था, न एकाएक परम्परा को तोड़कर आधुनिक हो जाने का श्रेय मेरा है। वैसा कहना ऐतिहासिक झूठ भी होगा, अनेक बड़े कवियों के साथ अन्याय भी होगा, और आधुनिक होने की प्रक्रिया को ग़लत समझना भी होगा।

मैंने कहा कि मैंने 'नयी रचना-स्थिति के तर्क को पूरी तरह स्वीकार' किया : पर उस स्थिति की पहचान कहीं पहले आरम्भ हो गयी थी, उसके अनुकूल परिवर्तन भी कई कवि कहीं पहले करने लगे थे। उस तर्क का पूरा स्वीकार पहले नहीं था, पर स्थितियों की पहचान में कवि का प्रातिभ योग भी होता है और मुझसे पहले कई बड़ी प्रतिभाएँ युग को नया मोड़ देने की—या नये युग के लिए

मार्ग प्रशस्त करने की—शुरुआत कर चुकी थीं। और मैंने भी 'तर्क का पूरा स्वीकार' एक साथ ही कर लिया हो, ऐसा भी नहीं था : हो भी कैसे सकता ? कवियों की प्रतिभाएँ छोटी-बड़ी तो होती हैं, उसी के अनुपात में वे काव्य के स्वभाव में परिवर्तन लाते हैं। पर यह भी उतना ही सच है कि कविता कविता में से ही निकलती है, इसलिए परिवर्तनकारी ऊर्जा क्या कर पाती है यह इससे नियन्त्रित हो जाता है कि उसका प्रयोग जिस पर हो रहा है उसकी सत्ता क्या है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में छायावाद के कवि पारम्परिक श्रव्य और आधुनिक पठ्य के बीच में आते थे : उन्होंने हिन्दी काव्य के स्वभाव में कई परिवर्तन ला दिये जिनका आत्यन्तिक महत्त्व था और जिनके बिना उसका आधुनिक होना सम्भव नहीं था। इन सबका लाभ उन्हें मिला जो इनके पीछे आये, पर जो कविता इन परवर्तियों के सामने फिर बदली जाने के लिए थी—या जिस कविता में से इनकी कविता निकलनी थी—उसमें अब छायावाद का काव्य भी सम्मिलित हो गया था। इस प्रकार परवर्ती कवि ने छायावाद से भी अपने को मुक्त करने की लड़ाई में ही अपने को पारम्परिक काव्य से मुक्त किया। छायावाद के अस्तित्व के बिना वह यह कर ही न पाता। यानी छायावाद द्वारा लाये गये परिवर्तन लाये न जा चुके होते तो उसे पहले वह काम भी करना पड़ा होता जो छायावाद ने किया।

इस बात को दूसरी तरह भी कह सकते हैं। पारम्परिक वाचिक रीति से मुक्त होकर आज की कविता में आने के लिए छायावाद के मार्ग से होकर आना आवश्यक था। इसी बात को फिर यों भी कह सकते हैं कि पारम्परिक वाचिक रीति की व्यक्तित्व-रहित वर्णनात्मकता और वृत्तात्मकता से मुक्ति के लिए पहला विद्रोह छायावाद का था जिसने कविता में फिर से प्राण डाल कर उसे व्यक्तित्व दिया और उस व्यक्तित्व को एक भाव-प्रवण भाषा दी; फिर दूसरा विद्रोह छायावाद की अन्तराभिमुखता और अतिशय व्यक्ति-वैचित्र्य के विरुद्ध था जिसके कारण सम्प्रेषण के लिए एक नया जोखिम सिर उठाता दीखने लगा था। इस प्रकार उन दोनों पक्षों की सत्यता—और उस सत्य की आंशिकता—स्पष्ट हो जाती है जो नयी कविता के नयेपन का दावा करते हैं और जो उसमें कुछ भी नया न देख कर सभी प्रवृत्तियों के अंकुर पहले के कवियों में दिखते सिद्ध करते हैं। 'अज्ञेय' के काव्य में जो मिलेगा, निश्चय ही उसमें से कुछ 'निराला' में उससे पहले मिल जायगा, कुछ 'नवीन' में पहले मिल जायगा, कुछ रवीन्द्रनाथ ठाकुर में पहले मिल जायगा, कुछ माइकल मधुसूदन दत्त में मिल जायगा। कुछ विदेशी कवियों में भी मिल जायगा। फिर कुछ 'अज्ञेय' के समवयसियों में भी मिल जायगा। किसी कवि के कृतित्व के समालोचन और मूल्यांकन में इन सब सम्बन्धों, समानताओं

और प्रभावों की पड़ताल आवश्यक होती है, पर उससे आगे भी कुछ अपेक्षित होता है। और वह यह कि परम्परा के विविध सूत्रों, प्रभावों की विभिन्न धाराओं को पहचानने के बाद कहाँ हम यह पाते हैं कि इस योग में कुछ है जो इसी का विशिष्ट है ?

'प्रभाव' के बारे में एक और बात ध्यान में रखने की है। संसार में कोई महान् कवि भी ऐसा नहीं हुआ जिसने कहीं से कुछ न लिया हो। आखिर शिक्षा मात्र दूसरों से कुछ ग्रहण करने की ही प्रक्रिया है। परम्परा भी उससे सम्बन्ध का नाम है जो पहले से मौजूद है, जो 'दिया हुआ' है। और 'कविता में से कविता निकलती है' इसका अर्थ भी यही है कि प्रभावों का एक अपरिहार्य समूह सर्वदा मौजूद रहता है। फिर जिस भाव-यन्त्र की सूक्ष्म ग्रहणशीलता ही उसे विशेष महत्त्वपूर्ण बनाती है, वह प्रभाव कैसे नहीं ग्रहण करेगा ? पर रचना में महत्त्व इस बात का नहीं होता कि कवि ने कहीं से कुछ लिया या नहीं लिया : महत्त्व इस बात का होता है कि जो लिया उसका उसने किया क्या—उससे बनाया क्या ?

इसी अर्थ में यह बात भी सच पायी जायेगी कि 'अज्ञेय' की कविता में पहले-पहल नयी सम्प्रेषण-स्थिति का सम्पूर्ण स्वीकार है : वाचिक परम्परा से टूटन ('टूटन' और 'विकसन' का सम्बन्ध ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है) और पठन की स्थिति से पूरा जुड़ाव 'अज्ञेय' के काव्य में निष्पन्न हुआ। 'अज्ञेय' में इसकी पहचान क्रमशः स्पष्टतर और सचेत होती गयी, पर उससे सहज एकात्मता पहले से थी। जहाँ वैसी एकात्मता नहीं होती वहाँ बढ़ती पहचान के बावजूद क्या कठिनाई होती है, यह 'दिनकर' या 'बच्चन' की काव्य-यात्रा में देखा जा सकता है। दोनों 'अज्ञेय' से कुछ बड़े थे, दोनों छन्दोबद्ध कविता में सफल और प्रसिद्ध हो चुके थे, दोनों अच्छे वाचक होने के नाते श्रोता-समाज में प्रिय थे; दोनों ने नयी स्थितियों को पहचानते हुए (अनिच्छापूर्वक) नयी भाषा और संरचना को अपनाया पर उससे एकात्म न होने के कारण सफल न हो सके। इसके विपरीत 'अज्ञेय' की कविता में नयी सम्प्रेषण-स्थिति की मर्यादा और कठिनाइयों की सहज पहचान, उनका सहज स्वीकार और उनके निराकरण का प्रकृत प्रयत्न मिलेगा। लेकिन ये सब बातें मेरे कहने की नहीं हैं—मेरे कहने से उनकी सच्चाई भी विकृत हो सकती है।

नयी परिस्थिति में कवि-व्यक्तित्व के प्रक्षेपण की आवश्यकता का उल्लेख मैंने किया है। छायावाद के कवियों ने यह सम्भव बना दिया कि कवि का व्यक्तित्व रचना में झलके : सम्भव ही नहीं बना दिया बल्कि अनिवार्य कर दिया। पाठक

भी काव्य में कवि के व्यक्तित्व की छाप खोजने लगा। भाव भी एक सामान्यीकृत रूप में न आकर व्यक्तित्व की विशिष्ट छाप लेकर सामने लाये जाने लगे : यह काम भी छायावाद ने किया। इन परिवर्तनों के अनुरूप काव्य-भाषा भी छायावाद ने गढ़ी और उसके लिए एक व्यापक अनुकूलता भी पैदा की—एक समाज बनाया। रीति-प्रधान, सिद्ध भाषा के बदले बिम्ब-प्रधान रूपसर्जक शब्द-समूह भी छायावाद की देन था। उसके इस कर्तृत्व को नकारना केवल उसके साथ अन्याय करना नहीं है; उसके बाद आने वाली कविता की समझ के मार्ग में रोड़ा अ-टकाना भी है।

छायावाद ने जो मार्ग प्रशस्त किया, उस पर आगे बढ़ने के जोखम दूसरे थे; और यह तो था ही कि छायावाद अपना काम पूरा कर चुका तो उसके उपकरण भी नये कवि के लिए उपयोगी न रहे। 'रीति' बनाम 'बिम्ब' : इस मुकद्दमे का फ़ैसला हो चुका था। लेकिन विकासमान नागर भाषा (और कोई भाषा अपने को शहर में जाने से रोक कैसे सकती है, रोकेगी क्यों ?) केवल बिम्ब के सहारे नहीं रह सकती—इसके बावजूद कि देहात की भाषा में बिम्ब की सार्थकता और प्राणवत्ता की वह प्रशंसा करे। फिर जहाँ हम 'साहित्यिक भाषा' और 'बोल-चाल की भाषा' का परम्परागत भेद मिटाने का प्रयत्न कर रहे हों—एक ओर साहित्य में प्रजातान्त्रिक आग्रह के कारण और दूसरी ओर समाज में आभिजात्य-विरोधी आग्रह के कारण—वहाँ बिम्बात्मकता पर मुहावरे के दबाव की उपेक्षा भी नहीं हो सकती थी।

यथार्थ सम्बन्धी आग्रह कवि के लिए नये प्रश्न उभार रहे थे। छायावाद ने जो भाषा गढ़ी थी वह व्यक्ति के अनुभूत, आभ्यन्तर यथार्थ को सामने लाने के लिए गढ़ी थी : वाचिक परम्परा की वृत्तात्मक रीति में यही सबसे कठिन काम और कवि की सबसे बड़ी ज़रूरत था। परवर्ती कवि के लिए 'अपनी' बात कहना कठिन नहीं रहा था—उसका रास्ता छायावादी खोल चुका था और उपयुक्त भाषा का ढाँचा भी वह खड़ा कर चुका था। पर सामाजिक अनुभूतियों के, बाह्य यथार्थ के प्रस्तुतीकरण और सम्प्रेषण के लिए न छायावादी के शब्द पर्याप्त थे, न उसकी भाषा। बल्कि ऐसा सोचना भी निराधार नहीं लगता था कि शायद छायावाद से पहले की वृत्तपरक भाषा भी अपनी निर्वैयक्तिकता के कारण ही फिर से उपयोगी हो सकती है। जो बाहर है, सतह पर है, उसे बखानने के लिए एक नयी और सपाट भाषा की आवश्यकता थी—साधारण बोल-चाल की ओर हम पहले ही बढ़ चुके थे और अब हमें भाषा का वह अभिधामूलक इकहरापन भी वांछनीय जान पड़ने लगा जो सामाजिक व्यवहार में इसलिए श्लाघ्य होता है कि कही हुई

बात का अर्थ समझने में भूल न हो। काव्य-भाषा इकहरी नहीं होती, नहीं होनी चाहिए; काव्य-भाषा मुहावरे और समय में बंधने की बजाय उसका विस्तार करती है; कवि का यथार्थ भी सतही और इकहरा नहीं होता, नहीं होना चाहिए; काव्य-मूल्यों के सम्बन्ध में इन सब बुनियादी बातों की उपेक्षा हुई : यह इसलिए नहीं कि कवि में बुद्धि या समझ की कोई बुनियादी कमी आ गयी थी बल्कि इस-लिए कि ये सब प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ थीं—छायावाद की तथाकथित 'रूढ़ियों' के विरुद्ध। यह एक बार फिर उस बात को सिद्ध करता है जो मैंने पहले कही: —कि कविता कविता में से निकलती है : इसी कारण हमारे लिए यह सम्भव ही नहीं था कि हम छायावाद को एक तरफ़ रख कर आगे बढ़ें या कि पीछे उससे पहले के काव्य से जुड़ें। और ऐसा कभी सम्भव नहीं होता।

मेरी कविता, मेरे समय की कविता की यह पृष्ठ-भूमि है : मैंने आरम्भ में कहा कि इस संकलन को भूमिका की अपेक्षा नहीं थी और मेरी लिखी भूमिका की तो और भी नहीं, पर इस सामान्य पीठिका की उपयोगिता इसमें हो सकती है कि इससे उस कविता को सहानुभूतिपूर्वक पढ़ने-समझने में मदद मिले। छायावाद के कवियों ने अपने लिए एक समाज बनाया था जिसका लाभ हमें भी मिला; मैंने और मेरे समकालीनों ने अपने लिए एक समाज बनाया। छायावाद का समाज (स्वयं छायावाद के कवियों की तरह) वाचिक परम्परा में पला था और पढ़ कर कविता ग्रहण करने की ओर आ रहा था—छायावाद के प्रायः सभी प्रमुख कवि संगीत में भी गति रखते थे। हमारे समाज ने ऐसा नहीं है कि काव्य-वाचन कभी सुना न हो पर वह प्रमुखतः श्रोता नहीं, पाठक है, जैसे कि कवि प्रमुखतः वाचक नहीं, लेखक है। और पाठक होकर वह भी उसी तरह और उतना ही अकेला है जितना कवि; वह भी कवि को पहचानने के लिए उसी तरह भाषा के अंधेरे में टटोलता हुआ बढ़ता है जैसे कि कवि उसे पहचानने के लिए; रोज़मर्रा भाषा के दिये की रोशनी उसके लिए भी उतनी नाकाफ़ी मगर उतनी ही आवश्यक है जितनी कवि के लिए....

अज्ञेय : जन्म ७ मार्च १९११, कसया (जिला देवरिया), पुरातत्त्व खुदाई शिविर में। शिक्षा मद्रास तथा लाहौर में। क्रांतिकारी जीवन की व्यस्तता से आगे की पढ़ाई में अवरोध। 'सैनिक', 'विशाल भारत', 'प्रतीक', 'दिनमान' का संपादन। 'तारसप्तक' का संपादन, (१९४३)।

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन :

कविता : भग्नदूत (१९३३), इत्यलम् (१९४६), हरी घास पर क्षण भर (१९४९), बावरा अहेरी (१९५४), इंद्रधनु रौंदे हुए ये (१९५७), अरी ओ करुणा प्रभामय (१९५९), आँगन के पार द्वार (१९६१), पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (१९७३), महावृक्ष के नीचे (१९७७), नदी की बाँक पर छाया (१९८१)।

संपादन : दूसरा सप्तक (१९५१), तीसरा सप्तक (१९५९), चौथा सप्तक (१९७८)।

उपन्यास : शेखर : एक जीवनी (१९४१, १९४४), नदी के द्वीप (१९५२), अपने-अपने अजनबी (१९६१)।

निबंध-आलोचना : त्रिशंकु (१९४५), सबरंग (१९४६), आत्मनेपद (१९६०), हिंदी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य (१९६७), भवन्ती (१९७२), अद्यतन (१९७७), शाश्वती (१९८०)।

साहित्य अकादेमी, भारतीय ज्ञानपीठ तथा कई अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित।